UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63)

ISSN 0973-1490

वर्ष-21.1 एवं 21.2

संयुक्तांक : जुलाई-दिसम्बर, 2023

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 21.1 एवं 21.2 संयुक्तांक : जुलाई-सितम्बर, अक्टूबर-दिसम्बर, 2023

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

मुख्य सम्पादक

पी.सी. हलधर

▼

सम्पादक

शिवनारायण

आस्था भारती

दिल्ली-110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
मकान नं. 167, सेक्टर 15-ए
नोएडा-201301
ई मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य 5

आजीवक मक्खलि गोसाल

डॉ. शिवनारायण

लोक–रंग संस्कृति

1. लोक साहित्य में नारी 11

मृदुला सिन्हा

2. सांस्कृतिक वर्चस्ववाद 18

बी.आर.विप्लवी

दलित चिंतन

3. *भारतीय समाज के जाति–रंग* 27

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन

4. आजीवक धर्म में पितृसत्ता 40

कैलाश दहिया

समाज–चिंतन

5. किन्नर विमर्श समाज, संस्कृति और साहित्य 52

प्रो. शैलेन्द्र सिंह

6. काशी के गुरुकुल में चार दिन 61

बलराम

7. राष्ट्रीय आंदोलन का दार्शनिक नींव 66

अरुण कुमार

बहिरंग चिंतन

8. कामकाजी महिलाओं के समक्ष कार्य के दौरान... 71

प्रो. शैलेन्द्र सिंह/संगीता सिंह

9. हरिवंश नारायण की कहानियों में मानवतावाद 75

ब्यूटी कुमारी

10. महात्मा गाँधी का बनारस भाषण 80

डॉ. राजीव रंजन गिरि

आदिवासी चिंतन

11. दक्षिण–पूर्व एशिया की कला पर प्राचीन भारतीय कला का प्रभाव 92

डॉ. सिद्धार्थ सिंह/उपेन्द्र कुमार

12. मुंडारी गीतों में जीवन–दर्शन 102

डॉ.कुमारी अपर्णा

13. जसिंता केरकेट्टा की कविताओं में मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति 105

डॉ. ज्योति गौतम

अनुवाद

14. विदेशी कवियों के हिन्दी अनुवाद 109

डॉ. साधना अग्रवाल

शिक्षा चिंतन

15. दलित कविता, चिन्तन और अम्बेडकर 114

डॉ. विनोद कुमार

16. मेंटर टीचर कार्यक्रम शिक्षक की नजर से 119

प्रीति

समीक्षा

17. महाकवि की मंदोदरी 126

आशीष कुमार तिवारी

■

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

मक्खलि गोसाल के जीवन–दर्शन

डॉ० शिवनारायण

मक्खलि गोसाल छठी सदी ई.पू. (560–484 ई.पू.) के एक प्रमुख आजीवक दार्शनिक हैं, जो महावीर (599–429 ई.पू.) और भगवान बुद्ध (563–483 ई.पू) के समकालीन थे। इन्हें भारतीय नास्तिक परम्परा में सबसे लोकप्रिय आजीवक सम्प्रदाय का संस्थापक और नियतिवाद का प्रवर्त्तक दार्शनिक माना जाता रहा है। जैन और बौद्ध ग्रंथों में इनकी चर्चा 'मक्खलिपुत्र गोशाल', 'गोशालक मक्खलिपुत्र आदि रूपों में होती रही है, जबकि 'महाभारत' के शांतिपर्व में इन्हीं को मंकि ऋषि कहा गया है। हालाँकि देखा जाए तो मक्खलि गोसाल के बारे में प्राथमिक या प्रामाणित स्रोत के रूप में न के बराबर सामग्री उपलबध है। मक्खलि गोसाल और आजीवक सम्प्रदाय से संबंधित जानकारी के लिए दर्शनशास्त्री इतिहासकार एक तरह से 'भगवती सूत्र', बौद्ध ग्रंथ दीर्घ निकाय के 'सम्न्नफल सुत्त' और मौर्यकालीन बराबर पहाड़ की गुफाओं से प्राप्त शिलालेखों पर ही आश्रित हैं, जिनमें मक्खलि गोसाल और उनके आजीवक सम्प्रदाय के अनुयायियों को महावीर और बुद्ध से कमतर बताते हुए उनका मजाक उड़ाया गया है। बावजूद इन सबके इस तथ्य पर इतिहासकारों में कोई विवाद नहीं है कि मक्खलि गोसाल के आजीवक सम्प्रदाय और दर्शन का प्रभाव व प्रचलन पहली सदी तक तो संपूर्ण भारत में व्यापक रूप से था ही, आज भी वह देश–दुनिया के भिन्न–भिन्न भागों में दबे–कुचले–वंचित समुदाय के कोटि–कोटि जनसमुदाय का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। यहां इस तथ्य का उल्लेख प्रासंगिक होगा कि इतिहासकारों में डी.आर. भंडारकर ने 'आजीविकाज' (1912), के.बी. पाठक ने 'ए सेक्ट ऑफ बुद्धिस्ट भिक्षुज' (1912), जे. कारपेंटर ने 'आजीवक' (1913), बेनी माधव बरूआ ने 'दि आजीवविकाजःए शॉट हिस्ट्री ऑफ देयर रिलिजन एंड फिलॉसफी' (1920) तथा 'ए हिस्ट्री ऑफ प्री–बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी'(1921), ए.एल. बाशम ने 'हिस्ट्री एंड डॉक्टराइन ऑफ आजीविकाज' (1951) और हरिपद चक्रवर्ती ने 'एस्केरिसिज्म ए एनसिएंट इन ब्राम्हणीकल, बुद्धिस्ट, जैन एंड आजीविकाज सोसायटीज' (1973) जैन और बौद्ध ग्रंथों के सहारे आजीवकों और मक्सलि गोसाल के इतिहास का पुनर्निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कदाचित ए.एफ. रूडोल्फ हॉर्न पहले विद्वान हैं, जिसने 1898 ई. में पहली बार मक्खलि गोसाल और आजीवकों के बारे मे ंपूरी दुनिया को परिचित कराया।

भारतीय दर्शन में दो तरह की पद्धतियां हैं, जो एक–दूसरे के समानांतर सदैव चलती रही हैं। इनमें पहली रूढ़िवादी पद्धति है तो दूसरे को अपरम्परागत नास्तिक पद्धति कहा गया। रूढ़िवादी पद्धति में सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदांत) आदि है, तो अरूढ़िवादी नास्तिक मतों में बौद्ध,जैन, लोकायत आदि प्रमुख हैं। इनमें पहली पद्धति ने खुद को वेद से जोड़ते हुए वेदों की सत्ता को स्वीकार किया और आस्तिक मत कहलाया, तो दूसरी पद्धति ने वेद की सत्ता को नकार कर नास्तिक मत की पहचान पायी। यहां महत्वपूर्ण यह है कि इन परस्पर विरोधी मतों में यदि किसी को समुचित स्थान नहीं मिला तो वह था आजीवकों का मत। भारत में आजीवकों के उद्भव के किस तरह के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कारण रहे हैं, उसे भी आजीवक मत में समझने का प्रयास किया गया तथा भारतीय समाज में नियतिवाद के महत्व को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया। 'सामंजयफल सुत्त' के संदर्भ से बुद्ध के समकालीन छह नास्तिक दार्शनिकों की जानकारी मिलती है, जिनके नाम पूरन कस्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकंबली, पकुंध कंचायन, संजय बेलित्थपुत्र और निगंध नाथपुत्र हैं। इनमें से तीन ज्ञानियों पूरन, मक्खलि और पकुध को आजीवक संप्रदाय से माना जाता हैं। आजीवक शब्द आजीव से बना, जिसका अर्थ जीविका का साधन होता है। इस प्रकार आजीवक का तत्त्वगत अर्थ हुआ जीविका के लिए श्रम करने वाला समुदाय। इसी समुदाय को ब्राह्मणवाद ने शूद्र कहकर उसे लांछित जीवन जीने को अभिशप्त किया।

आजीवकों का संबंध निर्वस्त्र रहने वाले उन संन्यासियों से जोड़ा जाता है जो वैदिक परम्परा के खिलाफ एक श्रमण आंदोलन था। एक तरफ जहां रूढ़िवादी मत ब्राह्मण परम्परा की उपज थे, तो दूसरी तरफ अरूढ़िवादी नास्तिक मत श्रमण परम्परा की देन थे। कहते हैं, आजीवक दर्शन का सारतत्व भाग्य था, जिसे सामान्यतः नियतिवाद कहा जाता रहा है! आजीवकों का निश्चयवाद परमाणुवाद के साथ आया, जो कि गंगाघाटी में सभ्यताओं के विकास में जोड़कर देखा गया, जबकि उस समय राजनीतिक सत्ता का तेजी से केन्द्रीकरण भी हो रहा था। हालांकि निश्चयात्मक सिद्धांत केवल आजीवकों का ही नहीं, बल्कि अन्य मतों में भी इस सिद्धांत का वर्णन मिलता है। मसलन वैशेषिक न्याय दर्शन अनुभव को ही एक मात्र ज्ञान का स्रोत मानता है। परमाणुओं को ही सभी पदार्थों का मूल मानता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका, दर्शन और इतिहास के सिद्धांतों ने आजीवक दर्शन को 'नियतिवाद' कहा है। आजीवक सम्प्रदाय के अनुसार संसार–चक्र नियत है। वह अपने क्रम में ही पूरा होता है और मुक्तिलाभ करता है। आजीवक पुरुषार्थ और पराक्रम को नहीं मानते थे। उनका मानना रहा कि मनुष्य की सभी अवस्थाएँ नियति द्वारा संचालित होती हैं। देखा जाए तो आजीवक सम्प्रदाय की नियति का संबंध भाग्यवाद से जुड़ता है। आजीवकों के दर्शन का उल्लेख 'समन्नफल सूत्त' में मिलता है। इतिहास बताता है कि सम्राट आजातशत्रु

जब अपने संशय को लेकर गौतम बुद्ध से मिलते हैं और छह भौतिकवादी दार्शनिकों के मतों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं तो अजातशत्रु भगवान बुद्ध से कहते हैं – 'भंते, अगले दिन मैं मक्खलि गोसाल के यहाँ गया और कुशलक्षेम आदि पूछने के बाद उनसे पूछा– 'महाराज, जिस प्रकार दूसरे शिल्पों का लाभ व्यक्ति अपने इसी जन्म में प्राप्त करता है, क्या श्रामण्य–जीवन का लाभ भी मनुष्य इसी जीवन में प्राप्त कर सकता है?' मक्खलि गोसाल ने जवाब में कहा – 'घटनाएँ स्वतः घटती हैं। उनका न तो कोई कारण होता है, न ही पूर्व निर्धारित कोई शर्त। उनके क्लेश और शुद्धि का कोई हेतु नहीं है। प्रत्यय भी नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के सत्त्व क्लेश और शुद्धि प्राप्त करते हैं। न तो कोई बल है, न ही वीर्य, न ही पराक्रम। सभी भूतजगत, प्राप्तिमात्र आदि परवश और नियति के अधीन हैं। निर्बल, निर्वीय और संयोग के फेर से सब छह जातियों में उत्पन्न हो सुख–दुःख का भोग करते हैं। संसार में सुख और दुःख बराबर हैं। घटना–बढ़ना, उठना–गिरना, उत्कर्ष–अपकर्म जैसा कुछ नहीं होता। जैसे सूत की गेंद फेंकने पर उछलकर गिरती है और फिर शांत हो जाती है, वैसे ही ज्ञानी और मूर्ख सांसारिक कर्मों से गुजरते हुए अपने दुःख का अंत करते रहते हैं।'

5वीं–6ठी शताब्दी ई.पू. के काल को देखें, तो उत्तर भारत में कई बड़े–बड़े राज्यों का उद्भव हो रहा था, जिसमें कोसल और मगध सबसे बड़े राज्य थे। उस समय तीन दार्शनिक मतों की धूम थी – जैन, बौद्ध और आजीवक पूरे उत्तर भारत को प्रभावित कर रहे थे। प्रसिद्ध दार्शनिक देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय की मानें तो मगध और कोसल जैसे बड़े साम्राज्य छोटे–छोटे जनजातीय गणराज्यों के लिए खतरे थे। इस मत को समझने के लिए एक नजर उस समय की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों को ऐतिहासिक रूप से रेखांकित करना आवश्यक है। बाशम (1951:8) बताते हैं कि आखिर आजीवकों का मूलभूत सिद्धांत नियतिवाद पर ही क्यों आ जाता है। उस समय प्राकृतिक आपदा यथा बाढ़, सूखा, अकाल और महामारी की मार समय–समय पर इतने व्यापक रूप में पड़ी कि मनुष्य के बचने के तमाम प्रयत्न नाकाम रहे। आजीवक संप्रदाय का मूल वाक्य था – 'मानवीय प्रयत्न प्रभावहीन है।' (नत्थि पुरिस्कारे)। अकारथ है, यह उक्ति इतने व्यापक स्तर पर प्रसारित हो गया कि गंगा के समतल भूभागों के लोगों के जुबान पर हर मुसीबत के वक्त तिरने लगा। आजीवकों का मानना है कि सभी जीव 'नियति, संगति और भाव से विकसित' होते हैं। सांख्य दर्शन भी यह कथन स्वीकार करता है कि उन्नति और अवसर प्राकृतिक नियमों से आबद्ध हैं। बाशम 'समंजयफल सुत्त' के पद नियति–संगति–भाव–परिणति को संदेहास्पद और अस्पष्ट मानते हैं। आजीवक सबसे ऊपर नियति को रखते हैं, जो हर किसी चीज को नियंत्रित करता है।

मानना होगा कि आजीवकों ने अपने तात्विक सिद्धांतों में नियति को सबसे ऊपर स्थान दिया, जबकि संगति और भाव को गौण स्थान। यहाँ पर नियति को सामाजिक तथ्य माना जाा सकता है। क्योंकि आजीवकों ने नियति को एक वाह्य

कारक के रूप में समाज के सभी मनुष्य पर सामान्य रूप से बाध्यकारी माना। इस तरह के सिद्धांत ब्राह्मणवादी सिद्धांतों के खिलाफ थे, क्योंकि वर्ण व्यवस्था में चारों वर्णो की परिस्थिति अलग–अलग थी। इनमें निचले पायदान पर स्थित शूद्रों की स्थिति सर्वाधिक विनाशकारी थी। ऐसे में आजीवक जैसे दर्शन का उत्पन्न होना स्वाभाविक था, जिसने नियति के आगे सभी मनुष्यों को बराबर माना। अब चाहे वह किसी भी वर्ण का हो। शायद इन्हीं कारणों से 'भगवतीसूत्र' में मक्खलि गोसाल को अवर्णवादी कहा गया है। यह शब्द वहां दो बार आया है। पहली बार वहां मक्खलि गोसाल के मुख से कहलवाया गया है–'अहण्णं गोसाले चेव मंखलिपुत्रे समणधायए समणमारए समणयडिणीय आयरिय– उज्झायाणं अयसकारए अकित्रिकारए...' अर्थात् मैं ही मक्खलिपुत्र गोसाल हूं, मैं ही श्रमणघातक, श्रमण–मारक, श्रमण–ब्रह्मस्त प्रत्यनीक, आचार्य–उपाध्यायों का अयश करने वाला, अकीर्ति करने वाला हूं।' इस उक्ति से सवाल उठता है कि आखिर मक्खलि गोसाल को अवर्णवादी क्यों बताया जा रहा है? इसका जबाव यही हो सकता है कि आचार्य एवं उपाध्याय अपने आप को वर्णवादी घोषित कर धर्मनियंता होने का अहुंकार प्रदर्शित कर रहे थे। यह आचार्यो और उपाध्यायों का घमंड था, जो उनको वर्ण के रूप में बोलता था। मक्खलि गोसाल ने उनके इसी घंमड पर जोरदार प्रहार किया था।

समासतः कहा जा सकता है कि जैन और बौद्ध सम्प्रदायों की तरह ही आजीवक सम्प्रदाय भी वैदिक परम्परा और ब्राह्मण कर्मकांड को अस्वीकार करते हुए अस्तित्व में आया। आजीवक सम्प्रदाय ने उस दार्शनिक खालीपन को दूर किया, जो लोकायतों, जैनियों और बौद्धों ने छोड़ दिया था। जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदायों ने आजीवकों को अपने प्रतिद्वंद्वी के तौर पर देखा। मक्खलि गोसाल और वर्द्धमान महावीर की प्रतिद्वंद्विता का उल्लेख कई सारे जैन स्रोतों से पता भी चलता है। मक्खलि गोसाल को गौतम बुद्ध ने मोध पुरिसों अर्थात् मूर्ख पुरुष तक कहा। बाशम ने तो यहां तक लिखा है कि आजीवकों का प्रभाव इतने सारे जन समुदाय में फैल गया था कि बौद्ध धर्म ने अपना सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी जैनियों को नहीं, बल्कि आजीवकों को माना। बावजूद इन सबके आजीवक सम्प्रदाय के योगदान को भारतीय दर्शन में कमतर नहीं किया जा सकता है। उनका केवल महत्वपूर्ण योगदान यही भर नहीं है कि उन्होंने नियतिवाद को सार्वभौमिक, सिद्धांत के रूप में स्थापित किया, बल्कि उन्होंने जन सामान्य और राज्यों की अनियंत्रित शक्ति की इच्छा, उनकी सीमा और प्रकृति की महत्ता को भी समझने की भरपूर चेष्टा की। आज भी जबकि कई तरह की बाढ़, सुखाड़, महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं से देश–दुनिया संत्रस्त है, ऐसे में आजीवक सम्प्रदाय का नियतिवाद मनुष्य की सीमाओं को रेखांकित करते हुए भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है। मक्खलि गोसाल के जीवन, जीवन–दर्शन और जगत व्यापार एवं ईश्वरीय सत्ता के प्रति उनके विचारों के जान–समझकर तत्संबंधी प्रकाश के

आलोक में आजीवक सम्प्रदाय और नियतिवादी दर्शन का मंथन करना हमारा अपेक्षित अभिप्रेत है। मक्खलि गोसाल और उनकी विचारधाराएँ तत्कालीन भारत के ऐसे केन्द्र बिन्दु थे, जो नाना प्रकार की विरूपताओं के प्रतिरोधों के मध्य भी अपने आजीवक समप्रदाय को सुदृढ़ करने में सफल रहे। मक्खलि गोसाल के जीवन–दर्शन को समझने का आशय उस काल की राज्य–व्यवस्था, धर्म–द्वंद्व, नाना सम्प्रदायों के बीच सामाजिक कोलाहल आदि को जानना है। तब मक्खलि गोसाल और उनके आजीवक सम्प्रदाय के तीन प्रखर विरोधी थे– ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म एवं जैन सम्प्रदाय। बौद्ध और जैन सम्प्रदाय भी ब्राह्मणवाद के विरोधी थे। ब्राह्मणवाद मतलब आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म एवं कर्मकांड का घालमेल। ब्राह्मणवाद के विरोध में रहने के कारण बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय को आजीवक सम्प्रदाय का मित्र होना चाहिए था, क्योंकि वह भी ब्राह्मणवाद विरोधी सम्प्रदाय था, लेकिन ऐसा था नहीं। मक्खलि गोसाल दासपुत्र था। उसने शोषण की तमाम यंत्रणाओं को झेला था।

संतकवि, मक्खलि गोसाल की रचनाओं में तद्युगीन यंत्रणाओं की नाना छवियां देखने को मिलती हैं। 'किन्तु गोसाल मात्र एक भाट या चरण या कवि नहीं था। वह एक भविष्यद्रष्टा और दार्शनिक भी था। वह विश्व के संबंध में कोई दृष्टिकोण बनाना चाहता था अर्थात् वह उस संसार को समझना चाहता था, जिसमें वह रह रहा था । यही परिस्थितियां थी जो गोसाल के लिए घातक बंधन बन रही थीं और यही अनुभव बुद्ध ने भी किया।' समान परिस्थितियों में रहने के बावजूद मक्खलि और बुद्ध के बीच वैचारिक धरातल पर एका न रह पाया। मक्खलि 'अपने युग के सबसे बड़े ऐतिहासिक परिवर्तन अर्थात् जनजातीय व्यवस्था के पतन और राजसत्ता द्वारा प्रदत्त नए मूल्यों के अंश को समझना चाहते थे और वे इस कार्य में सफल भी हो गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों संसार का संचालन कोई बहुत बड़ी, प्रचंड, अथाह और अज्ञात शक्ति कर रही है, जिसे हम नहीं जानते। यही शक्ति थी भाग्य। यही उनका नियति दर्शन था।' मक्खलि गोसाल का विचार था कि 'स्वतंत्र इच्छा शक्ति की बात करना साधारण अज्ञानी लोगों की भूल है। दुर्बल, निठल्ले और भीरु व्यक्ति की भांति, सबल शक्तिशाली और साहसी व्यक्ति भी उसी एक सिद्धांत के पूर्ण नियंत्रण में हैं जो समस्त संसार का संचालन करता है।'

अपने क्रांतिदर्शी विचारों के कारण चाहे मक्खलि ने अनेक शत्रु बनाए, परन्तु उनके दिखाए वैचारिक मार्ग पर चलने वालों की संख्या भी अपार थी। मनुष्य मात्र को उन्होंने तमाम प्रकार के बंधनों से मुक्तकाम किया। मुक्तकामी चेतना का ऐसा प्रवाह उनके आजीवक सम्प्रदाय से निःसृत हुआ, जो अबतक नाना प्रकार के बंधनों में जकड़े मनुष्य को मुक्ति का मार्ग समझा रहा है। डॉ. धर्मवीर के शब्दों में कहें तो आजीवक धर्म के अनुयायी आम आदमियों में से थे। वे कारीगर थे, व्यापारी थे और इसी तरह के अन्य लोग थे। उनकी संख्या भी बौद्धों से ज्यादा

थी। कारण यही था कि आजीवकों द्वारा समाज सुधार पर अत्यधिक बल दिया जाता था। बौद्ध लोग मक्खलि गोसाल की आलोचना किया करते थे। समय–समय पर बौद्धों और आजीवकों के बीच खुली मुठभेड़ भी हुआ करती थी। गोसाल, महावीर और बुद्ध, ये तीनों धर्मपुरुष ब्राह्मणों का विरोध कर रहे थे। एक तरह से ब्राह्मण इन तीनों से लड़ रहा था। इसी वजह से कई लोगों को लगता है कि गोसाल, महावीर और बुद्ध एक धारा के थे। लेकिन यह अर्द्धसत्य है। चूंकि ये तीनों धर्मपुरुष ब्राह्मणों के विरोध में थे, इसीलिए केवल इसी सीमा तक तीनों एक थे, इस सीमा से आगे नहीं। ब्राह्मणों ने जैनियों, बौद्धों और आजीवकों पर विशेष कर लगाए थे। द्रविडियन इन्साइक्लोपीडिया के अनुसार ब्राह्मणों ने ये विधान किया हुआ था कि जो कोई भी बौद्धों–आजीवकों को भोजन खिलाएगा, उस पर 100 पणों का जुर्माना लगाना चाहिए। ये सारे विभेद थे। इसके अलावे भी नाना प्रकार की पाबंदियां थीं, लेकिन फिर भी आजीवक सम्प्रदाय ने अपना फैलाव किया और अनेक राजाओं को अपने साथ लाने में सफल रहा। आजीवक श्रम प्रधान समप्रदाय था, जिसने पूरे देश में कौशल आधारित कारीगरी संस्कृति का फैलाव किया। श्रम के प्रबंधन से समाज में शांति–सद्भाव रखना उनका कौशल था। इस कौशल के अभाव ने आज समाज में भारी अराजकता फैला रखी है। इस अराजकता से मुक्ति के द्वारा सामाजिक शांति–सद्भाव के लिए मक्खलि गोसाल के दर्शन को समझना जरूरी है।

भारतीय समाज आज नाना प्रकार के विचारों, आग्रहों आदि में विभाजित है, जिनमें परस्पर विरोधों एवं विरूपताओं की टकराहट भी चल रही है। खंड–खंड दलित विचारों में परस्पर टकराहट है, तो ब्राह्मणवादी वर्चस्व की मार भी है। आवारा पूंजीवाद की बर्बरता ने तो पूरी देश–दुनिया को अपनी गिरफ्त में ले रखा है। सामान्य जन में त्राही मची हुई है। भारतीय जीवन से नैतिकता एवं सहिष्णुता का तेजी से ह्रास होता जा रहा है। राजनीतिक और आर्थिक अराजकता ने सामाजिक संरचना को छिन्न–भिन्न कर रखा है। सभी जीवन में एक आदर्श की खोज में लगे हैं, जो शांति, सद्भाव एवं सौहार्द की स्थापना कर सके। एक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष सामाजिक न्याय की अपेक्षा की जा रही है, जो तमाम प्रकार की अराजकता को नियंत्रित कर सके। मक्खलि गोसाल के जीवन–दर्शन और आजीवक–दर्शन में एक रोशनी दिखती है। समकालीन जीवन के संत्रासों से मुक्ति के लिए समाज बार–बार अतीत की गुफाओं में किसी रोशनी की तलाश में भटकता ही रहा है। इस वैज्ञानिक युग में भी आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्मकांड, वर्णवाद आदि मान्यताओं के संजाल में भटकते–उलझते समाज को उनसे मुक्त होकर एक प्रकार के वैज्ञानिक प्रगतिशील जीवनमूल्यों की तलाश है, जो आजीवक दर्शन के मूल्यों से पूरी हो सकती है।

●

लोक साहित्य में नारी

मृदुला सिन्हा*

'लोक और शास्त्र' दोनों में पहले कौन आया? लेकिन मैंने सुना है कि जो पंडित लोग हैं, जानकार लोग हैं, वे हमेशा तर्क करते हैं कि पहले लोक की उत्पत्ति हुई कि पहले शास्त्र का निर्माण! तो लोक और शास्त्र का जो संबंध है, जब लोकगीतों और लोककथाओं पर विचार करने लगती हूँ तो लोकगीतों की पंक्तियों में डूब जाती हूँ। मुझे ध्यान आता है कि शास्त्र में भी ऐसे मंत्र हैं। वेद में भी मंत्र हैं। उन वेदों के मंत्रों, शास्त्रों के मंत्रों का अनुवाद जो है, वो अपनी अपनी भाषा में है – ओड़िया में हो, मराठी में हो, भोजपुरी में हो, वो अपनी–अपनी भाषा में अनूदित हैं, ऐसे बहुत सारे श्लोक। अभी मैं बताना चाहूँगी कि मैं जब राज्यपाल के पद पर गई, जैसा होता है – बहुत लोगों ने बधाई दी। बहुत बधाइयाँ आई, जैसी अपेक्षा थी। एक बधाई, एक गाँव की महिला ने, जो शायद मुझसे एक दो साल बड़ी हो या बराबर की रही होगी, उन्होंने मुझसे कहा कि – 'जइसन सुख अहाँ के धर में आइल ह, भगवान करथुन सबके घर में आय।' मैं इसका हिन्दी अनुवाद नहीं करनेवाली हूँ। आपलोग समझ गये होंगे और आप ही नहीं, दूसरे राज्यों में भी समझ जाते हैं सभी लोग। मैं सोचने लगी कि राज्यपाल बनी हूँ, वो इस बात पर मुझे बधाई दे रही हैं। तो सबलोग तो राज्यपाल नहीं हो सकते। फिर सबके घर में सुख कैसे आयेगा? फिर मेरा ध्यान गया कि हमारी जितनी लोककथाएँ हैं, जितनी व्रत कथाएँ हैं, जितने लोकगीत हैं, उन सब में, उस श्लोक का अंश है। जिसे हम बार–बार कहते हैं –'सर्वे भवन्तु सुखमया, सर्वे भवन्तु निरामया।' ये हमारी कामना होती है, हर लोककथा के बाद। राजा के घर में जो दुःख आया वो किसी के घर में नहीं आये। गाँव की कथाकार महिला पढ़ी–लिखी नहीं है जो कथा कह रही है। लेकिन वो कहती है कि जैसा सुख राजा के घर में आया बहुरा (बहुराना मतलब लौटा) वैसा सुख सबके घर में आये। ये जो हमारी व्रतकथाएँ हैं, लोककथाएँ हैं, ये उसका सार है।

मुझे आज बात करनी है– 'लोक साहित्य में नारी' विषय पर। सही बात तो ये है कि परिवार–जीवन में, समाज–जीवन में नारी और पुरुष को अलग–अलग करके नहीं देखा जा सकता। को बड़ छोट कहतु अपराधु, कौन बड़ा है, कौन छोटा है– ये कहना ही अपराध है। लेकिन ये श्रेय पुरुषों को जाता है, जिन्होंने नारी को आगे कर दिया है। हमलोगों को लगता है कि महिलाओं पर बहुत अत्याचार हुआ

* स्मृतिशेष लेखिका गोवा की राज्यपाल रह चुकी हैं।

है, बहुत कुछ हुआ है लेकिन हर रस्मोरिवाज में महिलाओं को आगे कर उनका सम्मान भी किया जाता है। पुरुष एक कदम पीछे हो जाता है। ये हमारी संस्कृति है। आज जब मैं इस सभागार में आने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ रही थी और आगे भी जब कार में जा रही थी बैठने के लिए, माननीय राज्यपाल जी ने हर समय मुझे आगे किया। एक प्रोटोकॉल होता है, उस प्रोटोकॉल के अनुसार आज जब मैं बिहार में हूँ, उनका ऊँचा पद है। लेकिन इन्होंने हमेशा मुझे आगे किया। मैंने सीढ़ियाँ चढ़ते वक्त भी उनसे कहा कि आपने सरकारी प्रोटोकॉल को पीछे किया, भारतीय संस्कृति के प्रोटोकॉल को आगे किया। इसलिए मैं इस संस्कृति–पुरुष को भी नमन करती हूँ। पढ़ी–लिखी महिलाएँ हों या अनपढ़ हों, यदि उसकी बातों को आप सुनेंगे तो, खासकर जो पढ़ी–लिखी महिला नहीं हैं, वो कितनी दूर तक जाती है, कितनी गहराई से सोचती हैं। मेरी माँ जब पालथी मारकर गीतगायनों के बीच में बैठ जाती थी और सीता के बारे में गीत गाती थी। सीता की जीवन–गाथा को गीत के माध्यम से प्रस्तुत करती थीं। वह स्वयं सीता बन जाती थी और उसकी आँखों से आँसू की धार बह निकलती। बार–बार आँसू की धार गिरती थी, जब वो कहती थी – 'सीता धरती में गइली समाये, मुखहु नहीं बोलती हैं।' सीता धरती में समा गई। राम की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा। शहर में बहनें पूछती हैं, भाई पूछते हैं– सीता ने राम को माफ किया या नहीं ? यदि माफ किया तो क्यों माफ किया? राम ने इतनी बड़ी सजा दी। गर्भवती महिला को अपने यहाँ से बाहर कर दिया, वो चली गई। जंगल में रही, अपने दोनों पुत्रों को योग्य बनाई। उनके मन में भी हमारी तरह भाव रहे होंगे, कि राम से बीस हो हमारे पुत्र! राम की मूर्त्ति को सामने रखकर ही, राम के व्यक्तित्व को सामने रखकर ही लव–कुश का पालन–पोषण हुआ। लेकिन जब उन्हें पुनः रानी बनाने के लिए आमंत्रित किया गया, वो नहीं मानीं। वो धरती में चली गई, लेकिन राम की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखी। इससे बड़ी सजा राम के लिए क्या हो सकती है? इससे बड़ी सजा कथा सुनने वालों के मन में जो दुःख या पीड़ा राम के लिए आपके मन में हो रही है, ऐसी पीड़ा नहीं हो सकती।

ये लोकगीतों में, जो लोक साहित्य है, उस साहित्य में जो इतिहासकार नहीं कर पाये हैं, जो शास्त्र के निर्माता नहीं कर पाते हैं, वो लोकगीतों में गोते लगाने पर मिलेगा। लोक साहित्य का मतलब केवल लोकगीत नहीं है। लोक साहित्य की एक बहुत बड़ी विषय सूची मैंने बनायी और उसको एक बुक फार्म में दिया है। पुस्तक का नाम रखा है 'बिहार : इन्द्रधनुषीय लोकरंग।' इस पुस्तक के लोक साहित्य में क्या–क्या आयेगा, मैं सूची जरा जल्दी–जल्दी पढ़कर आपको सुनाती हूँ– 'लोक साहित्य : साहित्य के लोग'। साहित्य के अनुसार जो लोक मन बनता है, वो किन–किन साहित्यों से लोरी है, बुझौअल है, कहावतें हैं, गालियाँ है, तकियाकलाम है, लोककथाएँ हैं, लोकगीत है, गोनु झा की कथाएँ हैं, विद्यापति हैं, बिरहा है, पराती हैं, झूमर है, बटगमरी है, नचारी है, बारहमासा है, फाग है, चैता है। उसी तरह से लोक नाट्य में मनोरंजन है। और भी बहुत कुछ जिसको हम लोक साहित्य कहते हैं। संस्कृति मंत्रालय से, कुछ साहित्यकारों को फेलोशिप मिलता है और उनको अध्ययन करने के लिए दिया जाता है किसी विषय पर। एक नौजवान को मैंने कहा – 'बिहार की लोककथाओं में नारी', इस विषय पर आप आवेदन दो। आपको मिलेगा समय।

आप इसपर रिसर्च करो। उसने सोचा, हम पूरे बिहार को ले लेंगे तो बहुत बड़ा हो जायेगा। चार–पाँच भाषाएँ हैं, मगही है, मैथिली–अंगिका–वज्जिका, भोजपुरी है और भी भाषाएँ हैं यहाँ पर। तो उसने 'भोजपुरी लोक कथा में नारी' कर के निकाला। ऐसी–ऐसी कथाएँ निकाली, जिसमें नारी का स्वरूप बहुत बड़ा उभरकर आता है, बड़ी गरिमामयी हो जाती हैं। लेकिन मैं एक कहानी, केवल एक रूप में कहूँगी, वो कहानी! कोई एम.पी. थी बड़ौदा से। जब ये बात चल रही थी, तो उन्होंने कहा – देखिये, ये मेरे यहाँ की एक कहानी है। एक राजा को (राजा का मतलब छोटे–छोटे गाँव के राजा, छोटे–छोटे पंचायत के राजा हुआ करते थे) गाँव से निकाल दिया किसी कारण से। तो उनको अपने गाँव से दूसरे गाँव में जाना था। उस गाँव को छोड़ना था। उनकी बहू ने कहा – आप यहाँ के राजा से (जिस राजा ने इस राज्य को जीत लिया था उस गाँव को) कुछ तो कहिये। खाने–पीने की सामग्री को हम दो–तीन बैलगाड़ी पर लादकर ले जायें। आप इतने ईमानदार रहे हैं, सबकुछ रहे हैं फिर भी आपको निकाल दिया गया। तो उतनी स्वीकृति तो मिल गई। उसके बाद जब गाड़ियाँ चली, उसपर दाल–चावल जो भी सामग्री हो सकती थी। वो दूसरे गाँव में जाकर पड़ाव डाला और रहने लगी। एक दिन ससुर ने अपने बहू से पूछा – घर का सब काम कैसे चल रहा है? बहू ने बताया – पिताजी मुझे भी ये चिंता थी... पता नहीं कितने दिनों तक कोई काम–धाम हमारे बच्चों को नहीं मिले। उसने क्या किया था। जो उपले होते हैं, गोइठे होते हैं, उस गोइठे में... उनके पास जितने हीरे–जवाहरात थे वे गोबर में उसे डालकर गोइठा बना लिया था और बोरे में भरकर वहाँ पर ले आया। जब उसने एक तोड़कर दिखाया तो उसमें से हीरा–जवाहरात निकला। राजा की आँखों से आँसू गिरने लगे। राजा ने कहा – तुम मेरी बहू हो, पुत्री हो, लेकिन मैं तुम्हारे चरण छूना चाहता हूँ।

कहानी का यहाँ अंत होता है। लेकिन हमारे दिमाग पर पड़नेवाले प्रभाव को, सुनने वाले को एक बात समझ में आती है कि कोई स्त्री कितनी व्यवहार कुशल होती है। उसके मन में आगे के भविष्य की चिंता रहती है। वो कैसी व्यवस्था करती है। अभी–अभी छठ व्रत किया लोगों ने, मैं अबतक करीब 25 लेख लिख चुकी हूँ छठ व्रत पर और विभिन्न कोणों से छठ को देखती हूँ। हमेशा कुछ–न–कुछ अलग विषय छठ व्रत से निकल आता है। ये बहुत पहले मैंने एक विश्लेषण किया था कि एक महिला जो व्रती है। वह पूजा करती है, पानी में खड़ी होती है, दो दिन के उपवास के बाद सूर्य भगवान प्रसन्न होते हैं। कहते हैं – 'माँगो, माँगो तिरिया जेय हो, जे कुछ माँगा, जे कुछ हृदय समाय'। माँगो, तुम्हारे हृदय में जो कुछ है, बोलो। वो बोलती है – 'अगला ही हरद–वरद ही माँगा, पिछला ही हर–हर माह, ते हरि छठि माय, दूध पियन के गाय मांगि ले', और कुछ मांगती है। उसके बाद – 'सभा बैठन के बेटा माँगि ले, नूपुर शब्द पुतोह हे हरि छठि माय। बैना बाँटि ल बेटी माँगि ले, पढ़ल पंडितऽ दामाद हे हरि छठि माय!' अब छठि माय सूर्य भगवान इतने प्रसन्न हो जाते हैं। वो क्या कहते हैं, बहुत ध्यान से इन गीतों को सुनना चाहिए। महिलाओं को भी अमल करना चाहिए। आपके आदर्श ये गीत की पंक्तियाँ हैं, वहाँ तक बनना है, वैसे ही बनना है, प्रयास करना है। एक सर्टिफिकेट देते हैं सूर्य भगवान महिलाओं को, सर्टिफिकेट दे गये। दूसरे से सर्टिफिकेट लेने की जरूरत नहीं है – 'जे तिरिया सवे गुण आगर, सब कुछ माँगे समतुलद' (दादी माँ का गला है इसीलिए थरथरा रहा

है मेरी आवाज)। ये स्त्रियाँ जो हैं, ये औरतें जो हैं – 'सबे गुण आगर' (सब गुणों का भंडार है) 'सवे कुछ मांगिल समतुल' (वैलेन्स मांगती है) परिवार को चलाने के लिए क्या–क्या चाहिए। सबसे पहले आर्थिक उन्नति पर ध्यान देती हैं – हल चाहिए, बैल चाहिए, गाय चाहिए, सेविका चाहिए, बेटी चाहिए, बेटा चाहिए सबकुछ संतुलित ढंग से माँगती है।

एक राज्य चलाने के लिए क्या चाहिए। जो राजनीति में लोग हैं उनको भी इनसे सीखना चाहिए। ये महिलाओं को ही गीतों के माध्यम से इतना संतुलित क्यों बताया गया है? रानी मधुमक्खी और बाकी सब वर्कर हैं। हजारो वर्कर हैं। काम करते हैं केवल रानी मधुमक्खी की चारों ओर। ये प्रकृति ने बनाया, ये समाज ने नहीं बनाया, ऋषि–मुनियों ने नहीं बनाया। प्रकृति में भी जायेंगे तो वही बात है। तो किसी भी प्रकार का साहित्य का रूप ले लीजिए, जो लोक–साहित्य है। लोकोक्तियाँ सामर्थ्यवान हैं। एक लोकोक्ति अपने घर में बहुत बोलती रहती हूँ। वे सब गाँव की भाषाएँ हैं, इसीलिए मेरे बच्चें जो अमेरिका में रहते हैं वो भी वहाँ बोलते हैं, सबको मालूम है। इतनी सार्थक लोकोक्ति जब मैं दिल्ली में आई 1977 में, तो जगह–जगह मैं बिहारियों से मिलती थी। उनमें थोड़ी हीन भावना की बात मैं देखती थी। मैं बार–बार कहती थी – बिहार में कहावत है – 'पनहे लऽ सब कोय, झमकावे ल कोय–कोय।' झमकाओं! तुम्हारे पास झमकाने के लिए बहुत कुछ हे। झमकाने के लिए लोक संस्कृति है, झमकाने के लिए छठ पूजा है; झमकाने के लिए सामा–चकेवा है। सामा–चकेवा में जो गीत हैं, उसमें इतिहास है – वृंदावन में आग लगल, केऊ न बुझावे हे हमरो कामोद भैया, काशी से आवले, हाय सूवर्ण लुटा पानी से बुझाव!' ये भाई की इतनी बड़ी प्रशंसा। वो काशी से आ रहा है। आप समझ सकते हैं क्या प्रतीकात्मकता है। मैं उसमें नहीं जाना चाहूँगी और वृंदावान में आग लगी हुई है। ये महिलाएँ, लड़कियाँ गाती है – 'चुगला करे चुगली, बिलैया करे मेऊँ, धल चीऊँ की फाँसी देंऊ। जहाँ मेरा बापा बैठे, जहाँ मोरा भैया बैठे, वहाँ चुगला–चुगली।' इतना बड़ा काम न्यायिक दायित्व भी मैं ही लूँगी। महिलाएँ कह रही है हम फाँसी दे देंगे। वो चुगली करनेवाली की इतनी हिम्मत, जहाँ मेरे आदरणीय बाबा बैठते हैं, आदरणीय भैया बैठते हैं, वहाँ जाकर चुगली करता है, छोटा काम करता है। उसको न्यायालय में नहीं ले जायेंगे, उसको पंचायत में नहीं ले लायेंगे? महिलायें कहती हैं – 'धट लट चुगला के फाँसी देम।' कितने गीत हैं। जिनके रस में डूबते रहते हैं। मैं अपने पति को भी लोकरस में डूबाती हूँ। क्या गीत है, भाई–बहन का वह त्योहार है, खेल है।

अगली बार आपलोग मिलकर इसी तरह का लोक उत्सव बिहार राजभवन में कीजिये, आठ दिनों तक कीजिये। मथुरा से आए हैं हमारे राज्यपाल जी, वो परिचित हो जायेंगे सब लोकगीतों से सुनकर। उनको बहुत आनंद आया होगा। राजभवन में कीजिएगा तो मैं भी गीत गाने के लिए आ जाऊँगी। एक गीत मेरी बहन गाती है – 'पनमा जे खैला कौमुद भैया पिकिया लेराय।' पान खाया इधर पीक फेका, उधर पीक फेका– स्वच्छता अभियान की थू–थू। इसलिए भैया पीक फेकना बंद कर दीजिएगा, न गंदगी करेंगे, न करने देंगे। वो बहन कहती है कि मेरे भाई ने पान खाया और पीक फेका। देखिये इतनी बड़ी अतिशयोक्ति किसी भी साहित्य में

आपलोगों ने नहीं देखा होगा। बहन कहती है – 'ओही पिकिया अयलै भैया, गंगा जमुना के र बाढ़।' उस पीक के सहारे गंगा जमुना में बाढ़ आई, मतलब ये कैसा भैया हैं। मैं हमेशा पहले कहती थी कि बारह वर्ष तक नरेन्द्र भैया जब चार या तीन चुनाव लड़े और जीते गुजरात में, तो मैं वहाँ जाती थी। दो चुनाव में वहाँ गई पाँच साल के बाद तो मैं देखी, जहाँ बिहार की महिलाओं की संख्या ज्यादा है वहाँ पर मैं गीत गाती थी, गीत से भाषण की शुरूआत करती थी – 'नरेन्द्र भैया चलल अहिरिया; मृदुला बहनो देलन आशीष ओ राम; जीयऽ ओ मेरे ओ भैया, जीयो भैया लाख बरिस ओ राम।' 'हाथ कमल सुख वीरवा; भौजी किवारों सिर से वीर!' ये कामना करनेवाली महिलाएँ, ये कितनी बड़ी कामना करती हैं कि मेरा भाई लाख बरस जिये। पहले मुझे लगता था कि कितनी भोली है बिहार की महिलाएँ, इतना भी नहीं मालूम कि उसका भाई लाख वर्ष तो जी नहीं सकता। बाद में चलकर मुझे लगा कि वो भाई के शरीर को जिंदा रखने की बात नहीं करती हैं, भाई का यश जिंदा रहे, भाई की कृति जिंदा रहे, भाई राष्ट्रभक्त बने, ये उनकी मन की कामना है और मेरी कामना तो थोड़ी–थोड़ी पूरी होती आ रही है न। जो मैंने गुजरात में जाकर गाना गाया कि मेरे भाई ऐसे रहें, उनका यश कायम रहे। लेकिन एक और आश्चर्य की बात है कि भाई कैसा हो – हाथ में कमल हो और मुख में बीड़ा हो, मुख में पान का बीड़ा मतलब, पेट भरा हो। ये सारी कामनायें लोकगीतों के माध्यम से, लोक कथाओं के माध्यम से, ये महिलायें गाती रहती हैं। पुरुष भी सुनते हैं, वो भी मनन करते हैं। लेकिन अब एक बात कहना चाहूँगी कि हम कहीं न कहीं हीन भावना से ग्रसित हुए। हमें ऐसा लगता है कि हमारी लोक संस्कृति जो है वो कमतर है। हमको उसे बाहर लेकर नहीं जाना चाहिए। लेकिन हमारे बस की बात नहीं है।

सोशल मिडिया पर हम सब ने देखा कि जो विदेश गई हैं हमारी बेटियाँ, बहुएँ वो सब लोकगीत, छठ के गीत गा रही हैं। एक तो अमेरिकन लेडी ने भी गायी है। इसीलिए एक बात कहना चाहूँगी, यह बात मन से हटा देना चाहिए कि हमारे जो युवक–युवतियाँ हैं वह अपने संस्कारों को आगे लेकर नहीं चलेंगे, ये आपके मन का भ्रम है। हमें अपने बच्चों को सिखाते रहना चाहिए, लोक संस्कृति, लोक साहित्य में तभी जीवित रहेगी जब हम घर में रहेंगे। मैं कहती हूँ, हिन्दी के लिए आप जब बात करते हैं तो हिन्दी घर के परिवार की भाषा होनी चाहिए। परिवार में जब हिन्दी में बात करेंगे तो हिन्दी पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होती जाएगी। ये बात छोड़ दीजिए कि माँ अंग्रेजी बोलेगी तभी बेटी अंग्रेजी बोलेगी, बेटा अंग्रेजी बोलेगा। नहीं! आप अपनी भाषा में बोलिये, भोजपुरी में बोलिये, मैथिली में बोलिये, हिन्दी में बोलिये। बच्चें अंग्रेजी में भी बहुत अच्छा करेंगे। ये मेरी सर्वकामना है। मेरे घर में हिन्दी का ऐसा वातावरण रहा कि मैंने अंग्रेजी के अपने प्रोफेसर पति को कभी भी 'आई लव यू' कहने नहीं दिया। ऐसा हिन्दी का वातावरण, ऐसा लोक साहित्य का वातावरण, दिल्ली में रहकर भी किसी ने नहीं कहा। कुछ लोग कहते हैं कि मृदुला तो बस लोकगीतों में सोचती है। मैं लोकगीतों में सोचती हूँ, लोक कथाओं में सोचती हूँ। उसमें से पात्र या चरित्र निकालती हूँ, लेकिन एक बात और समझ में आती है। राम–सीता, कृष्ण–राधा उनको हमने धरती से जाने नहीं दिया। वह हमारे बीच हैं। हमने उनको जीवन्त करके रखा है। हर गीतों में, हर कथा में ऐसा वर्णन है कृष्ण

का, ऐसा वर्णन है राम का। जो राम और कृष्ण को देखता है वो मंदिर में बैठे पत्थर की तो लगते नहीं हैं। वो तो हमारे बीच हैं। जिस समाज में धान और गेहूँ तौलते हुए – 'रामे–राम, राम एक, राम दो...' आपने गाँव में सुना होगा। मैंने तो देखा है राम के साथ। अनाज को तौलते भी राम ही राम चल रहा है, कृष्ण चल रहे हैं। कभी–कभी लगता है कि भगवान ने जन्म दिया देवता को, कि देवता ने जन्म दिया भगवान को! लेकिन लगता है कि हम उनको जीवन्त रखते हैं। किसी ने मुझे कहा (राज्य सभा के मेंम्बर हैं मि. त्यागी) उन्होंने मेरी किताब ले लीं और आखिर में कहा कि आपने सीता की आत्मकथा कैसे लिखीं? आप कैसे आत्मकथा लिख सकती हैं? आत्मकथा तो जो व्यक्ति होता है वो स्वयं लिखते हैं। मैंने कहा ; 'मैं सीता हूँ; मैं मिथिलांचल की बेटी हूँ, सीता भी मिथिलांचल की बेटी थी।' जो कथाओं में हम बेटी का गुण, सीता का गुण किताबों में पढ़ते हैं, सुनते हैं वो मेरी माँ मेरे अंदर भी डालने की कोशिश करती थी। हर महिला में सीता का अंश है, हर पुरुष में राम का अंश है। ये किसने डाला, कैसे आया? ऐसी अनेक लड़कियाँ मिलेगी, जो जिन्स छोटी–सी पहनी हुई है, टॉप छोटी सी डाली हुई है, वहाँ दौड़कर जा रही है... जरा उसको कहो, ...जरा थाम के पूछो... अंदर तक जाओगे तो उसमें भी गहराई में सीता मिल जायेगी। हमने उसे रखा है जीवित, जीवन्त। इतने पर्व–त्योहार, उत्सवों का देश है भारत। उन सबों का राज्य है बिहार। और उन पर्व त्योहारों पर गाने–वाले गीत या हर प्रकार के शादी–विवाह के अवसर पर गानेवाले गीत, कथाएँ, हमारे अंदर बहुत कुछ भर देती हैं। मैं तो दिल्ली 1981 में गई। 'साथी' के नाम से काम करती रही; राजनीति में रही, अपने ढंग से जो काम हुआ किया, साहित्य–लेखन का काम है पहला। 'बिहार की लोक कथाएँ' नामक पुस्तक प्रकाशन विभाग से प्रकाशित हुई।

मुझे लगा कि इनको बाहर ले जाकर समझाना चाहिए; खाली पहनने से थोड़ी चलेगी। पहनती है सबकोई, झमकाती है कोई–कोई। तो वो झमकाने लगी और झमकाते–झमकाते लगा कि अरे! ये केवल बिहार की संस्कृति नहीं है, ये केवल कथाएँ बिहार की नहीं हैं, क्योंकि ये मुझे जिम्मेदारी दी गई थी कि सारे देश में घूमने का, कभी कोई चर्चा करती थी, वहाँ भी कोई कहानी निकल आती थी, वहाँ भी वैसे गीत निकल आते थे और उनके माध्यम से मैंने राष्ट्रीय एकता या भारतीय संस्कृति की एकता के सूत्र ढूंढे। जब मैं गोवा में गयी तो यहाँ सम्मान करते हुए किसी ने कहा था कि मृदुला सिन्हा तो लोकसंस्कृति पर लिखती रही हैं, बिहार की संस्कृति पर लिखती रही हैं, वहाँ वो तो गोवा जा रही है क्या? उनको आश्वासन दिलाया था कि मैं बागमती, बूढ़ी गंडक, गंगा का जल अरब सागर में मिला दूँगी। मांडवी और जुवारी नदी में मिला दूँ। लेकिन मैंने कहा कि मैं एक गाँव में जाऊँगी। मैं गाँव की बेटी हूँ, गोवा के गाँव में भी जाऊँगी। जब गोवा के गाँव में गयी, जिस घर में बैठे थे, उन्होंने बर्त्तन में पाँव रखकर हमदोनों के पाँव धोये, ऐसे आवभगत किया, बहुत बढ़ियां किया और उसके बाद हमने देखा कि टेबल पर कुछ रखा हुआ है, बड़ा–सा डब्बा? मैंने अपने पति को दिखाया कि देखिये ये क्या है। और तीन तरफ से अलग–अलग डिजायन के बड़े–बड़े सरौता थी और एक डब्बा रखा हुआ था। उसमें कब्जा भी लगा

हुआ था। सरौता देखकर मेरे मन मे एक पंक्ति याद आ गई – 'सरौता कहाँ भूल आयी, प्यारी ननदोइया, सरौता कहा भूल आई... ।' खैर, वहाँ ये गाया नहीं। यहाँ भी नहीं गाना चाहिए, लेकिन उसके बिना रहा भी नहीं जाता... तो मैंने पूछा कि ये क्या है, तो बताया गया कि ये पनडब्बा है। उसका नाम कुछ और था। खोलकर देखा तो जैसा पनडब्बा दहेज में अपने यहाँ जाता था, वैसा ही पनडब्बा था। चाँदी का पनडब्बा था, पुराना धूमिल हुआ था। तो मैंने पूछा कहाँ से आया, तो उन्होंने बताया कि मेरी दादी के दहेज में पालकी में रखकर साथ–साथ आया। आपलोग याद कीजिये, मेरी उम्र के तो यहाँ पर कोई बैठी भी नहीं हैं। वो आवश्यक था शादी के बाद पनडब्बा छूटा है, वो एक बार जायेगा, तो मैंने फिर कहा नहीं – बूढ़ी गंडक, गंडक और नारायणी नदी का जल, जुआरी और माण्डवी में मिलाने की कोई जरूरत नहीं है। गोवा की संस्कृति वही संस्कृति है, जो बिहार की, बिहार की वही संस्कृति है जो पूरे भारतवर्ष की संस्कृति है, भारत की एकता इनसब को कायम रखने के लिए।

कल मैंने चीफ मिनिस्टर को अपनी एक किताब भेंट की और उनसे कहा कि लोक संस्कृति के, लोक साहित्य के, कुछ लोक साहित्य की पंक्तियाँ और कहानियों, लोककथा, लोकपर्व की जो कथाएँ हैं उनको आप सिलेबस में डालिए। बच्चे उनसे सीखें, वो किताब ले गये और कहा कि बहुत कुछ करने की जरूरत है। लेखक भी यहाँ बड़ी संख्या में उपस्थित हुए हैं, उनको भी बहुत कुछ लिखने की जरूरत है। वो लिखते जाना चाहिए, कहानियाँ सुनते जाना चाहिए और सीता या राम की जो जिंदगी है उसमें से बहुत सारे सूत्र निकलेंगे; जो आज के लिए व्यक्तित्व निर्माण के लिए बहुत आवश्यक है, उसपर हम काम करेंगे। हम साहित्य के माध्यम से भी बहुत कुछ को संजो कर रखे हुए हैं। आगे भी संजोया जाना चाहिए। लोकगीत अपने बच्चे को सिखाना। मेरी बेटी अमेरिका में है इतना बढ़िया गीत गाती है, जो मेरी दादी गाती है, वही गाती है। सारे गीत उन्हें सिखाया। अपने पिताजी को कह रही थी कि हम तो समधी का गाली भी गायेंगे। उन्होंने कहा कि नहीं–नहीं, ये सब नहीं गाते हैं। वो बोली मम्मी बोली है। हर गीत गाती है, गा सकती है बेटियाँ, और गाती हैं। उसमें डूबने दीजिए। उनमे से कुछ मोती निकालने दीजिए। उनको इनसब से वंचित मत कीजिये। और शिवनारायण जी इस बात को आगे बढ़ायेंगे। इनको मैं वर्षों से जानती हूँ। ये जितने अच्छे लेखक हैं, उतने ही साहित्य और संस्कृति के कार्यों में डूबे रहते हैं। ऐसे आयोजन करते–करवाते रहते हैं। लोक साहित्य में बहुत सारा काम करने की जरूरत है। हमारे बीच में यहाँ के राज्यपाल महोदय हैं। मैं तो फिर अरब–सागर के किनारे चली जाऊँगी। और गंगा से मोती निकलवाने का काम, समाज से और अपने से भी कुछ यहाँ भी सरकार से करेंगे। इस विश्वास के साथ में अपनी बात समाप्त करती हूँ।

●

सांस्कृतिक वर्चस्वाद

बी.आर.विप्लवी*

भारत को ब्रिटिश औपनिवेशिक तंत्र की गुलामी से मुक्ति की घोषणा के बाद इसका सामाजिक–राजनैतिक एवं धार्मिक स्वरूप क्या हो या कैसा हो, इस पर राष्ट्र निर्माता एवं युग–द्रष्टा बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के स्पष्ट, सुनिश्चित एवं निर्णायक विचार थे। वे सदियों से चली आ रही ग़ैरबराबरी पर आधारित रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनकारी पक्ष के प्रखर प्रवक्ता और प्रबल पैरोकार थे। वे चाहते थे कि इस देश की करोड़ों जनता को अशिक्षा के अंधकार से प्रकाश की ओर लाकर सामजिक न्याय के ज़रिए शान्ति पूर्ण सह–अस्तित्व एवं सम्मानपूर्ण जीवन बहाल किया जा सके। वे जिस शक्ति–सम्पन्न, सम्प्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य की परिकल्पना करते थे उसकी गूँज उनके व्याख्यानों, अभिभाषणों एवं समग्र लेखन में स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है तथा उससे भी आगे उनके द्वारा रचे गये भारतीय संविधान जैसे– महानतम आधार ग्रन्थ में जीवन्त होकर प्रकट होती है। ऐसा आधार ग्रन्थ भारतीय जन–तांत्रिक व्यवस्था को एकता के सूत्र में पिरोये रखकर उसके आदर्शों एवं उन्नति के सपनों को ज़मीन पर उतारने के लिए लगातार सन्नद्ध तथा सक्षम दिखाई देता है। ऐसे संविधान के पृष्ठ–दर–पृष्ठ एवं शब्द–दर–शब्द से डा॰ अम्बेडकर की वैश्विक जनवादी दृष्टि साफ़ नज़र आती है, जो भारत को समेकित एवं समग्र जनशक्ति का सकारात्मक सहयोग प्राप्त कर इसे केवल शक्ति सम्पन्न ही नहीं देखना चाहती वरन शक्ति के बेजा इस्तेमाल को रोकते हुए विश्व–शान्ति की नयी और व्यावहारिक समझ भी देती है।

ऐसे भारत के निर्माण हेतु डा॰ अम्बेडकर की कार्य योजनाओं में मुख्यतः शामिल थे– बुनियादी शिक्षा, रोजगार, कृषि एवं उद्योगों का राष्ट्रीकरण, जनसंख्या नियंत्रण, धार्मिक निरपेक्षता एवं जाति–विहीन समाज–निर्माण, नदी बाँध एवं सुदृढ़ सिंचाई परियोजना, राजनैतिक सुधारों द्वारा ईमानदार–कर्मठ एवं समुचित जनप्रतिनिधित्व, व्यक्ति पूजा से परे वैचारिक आस्था, आडम्बडर एवं धर्मान्धता की जगह विज्ञानवाद, श्रमिक हितों की रक्षा, नारी शिक्षा–समानता एवं कानून की नज़र में प्रत्येक नागरिक को समानता का अधिकार। यहाँ इस प्रकार के

* संपर्क – 113/2, सेक्टर–8बी, आवास विकास वृंदावन कॉलोनी, फेज–2, लखनऊ–226024, मो.–9852241055

परिवर्तनकारी तत्वों का समावेश दिखाई देता है जिसके ज़रिए एक जनवादी एवं सर्वसाधन सम्पन्न राष्ट्र का निर्माण किया जा सके।

भारतीय इतिहास से यह बात प्रमाणित है कि यहाँ तथा–कथित धार्मिक–आध्यात्मिक अधिनायकत्व ने लम्बे समय तक सामाजिक समता का क्रियान्वयन होने ही नहीं दिया। इसलिए आर्थिक विकास के ज़रिये आर्थिक साम्यवाद का सपना भी यहाँ आकार नहीं ले पाया। लम्बे समय तक कबीलाई–भौगोलिक पृथक्कीकरण ने अपनी–अपनी मजबूत सीमाएँ प्रायः दुर्लंघ्य बना रखीं थीं। फलतः एक अन्तर्कबीलाई समाज बनने की प्रक्रिया ही नहीं चली। आक्रमणों के दौरान बाहर से आयी जातियों के साथ यहाँ के कबीलों ने भी अपने आप को प्रायः पृथक ही रखा तथा कुछ जातियों ने इस अलगाव का फायदा अपने पक्ष में उठाते हुए इस पृथक अस्तित्व को ईश्वरीय बनाकर स्थायित्व दे दिया। इन्हीं प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप छोटे–छोटे राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व लम्बे समय तक चला जिसने भारतीय भू–भाग को कभी एक राष्ट्रीय संस्कृति नहीं बनने दिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था ने पहले से मौजूद इन स्वतंत्र राज्य–व्यवस्थाओं को ज्यों का त्यों रहने दिया तथा उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी की राज्य–व्यवस्था के अन्तर्गत एक घटक बना लिया। यह व्यवस्था 1757 के बाद ब्रिटिश साम्राज्य व्यवस्था कायम रहने तक ज्यों की त्यों चलने दिया गया। हाँ, इतना परिवर्तन ज़रूर आया कि ऐसी सभी राज्य इकाईयों को एक ही ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के कारण बहुत से एक समान नियम–कायदों से शासित होना पड़ा। शायद इसी व्यवस्था या मजबूरी ने भारत में एक फेडरल राज्य व्यवस्था की नींव रखी। ब्रिटिश साम्राज्य ने यद्यपि कि समान नियम और प्रावधानों को लागू किये जाने के अपने प्रयासों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये तथा कई प्रावधान केवल कुछ विशेष राज–तंत्रों तक ही सीमित रहे, फिर भी एक शासन–तंत्र के नीचे आने के बाद सभी राज्यों को मिलाकर, एक वृहत्तर भारत की संकल्पना फलीभूत तो हुई ही। इस नज़र से भी भारत को एक राष्ट्र–राज्य बनाने की दिशा में ब्रिटिश हुकूमत का जाने–अनजाने बहुत बड़ा योगदान रहा। इस प्रकार के भारत की परिकल्पना को लेकर (आज़ादी की पहल करते हुए भी) कुछ पुराने राजतंत्रों ने एक बार फिर स्वतंत्र होकर स्वशासित होने की माँग उठायी जिन्हें भारतीय गणराज्य में शामिल करना आसान नहीं था। इन छोटी राज्य–इकाईयों ने ब्रिटिश हुकूमत की अधीनता स्वीकार करते समय तरह–तरह के समझौते किये थे तथा एक बार ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति का अर्थ उन्हें पुनः अपना स्वतंत्र अस्तित्व अलग रहने में दिखाई देने लगा था। इस समस्या से निबटने हेतु डॉ अम्बेडकर ने ऐतिहासिक कदम उठाया तथा अच्छे तथा अनुकूल क़ानून के आश्वासन के ज़रिये इन राज्य–व्यवस्थाओं को गणतांत्रिक व्यवस्था में शामिल होने पर राजी कराया। इस प्रकार डॉ अम्बेडकर ने खंड–खंड बिखरी व्यवस्था (अव्यवस्था?) को एकीकृत करके अखण्ड भारत बनाने का स्वप्न साकार किया तथा इन राजतंत्रों

को एक लोकतंत्रीय प्रणाली में विलीन करने की कानूनीं अड़चनों का समाधान किया।

डा॰ अम्बेडकर के अनुसार राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद अलग–अलग बातें होती हैं– 'राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद के बीच विभेद है, ये मानव मनकी अलग–अलग मनोवैज्ञानिक दशाएँ हैं। राष्ट्रीयता का अर्थ है करुणा के प्रति जागरूकता तथा आत्मीयता के जुड़ाव की मौजूदगी की जानकारी। राष्ट्रवाद का अर्थ है– उन लोगों द्वारा जो आत्मीयता से जुड़े हैं अलहदा राष्ट्र की उपस्थिति की इच्छा। दूसरा यह सत्य है कि बिना राष्ट्रीयता के एहसास की स्थिति के राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। लेकिन दिमाग में यह रहना चाहिए कि इसके उलट बात हमेशा सत्य नहीं होती। राष्ट्रीयता का एहसास मौजूद रह सकता है फिर भी राष्ट्रवाद का एहसास बिल्कुल अनुपस्थित रह सकता है। इसका मतलब यह कि कि सभी मामले में राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद की लहर बने इसके लिए दो शर्ते पूरी होनी चाहिए– प्रथम यह कि राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छा। राष्ट्रवाद उस इच्छा की गत्यात्मक प्रस्तुति है। दूसरा ऐसा परिक्षेत्र होना चाहिए जिसे राष्ट्रवाद अपना सके, इसे राज्य बना सके तथा इसे राष्ट्र का सांस्कृतिक गृह बना सके। बिना इस परिक्षेत्र के राष्ट्रवाद, लाई एक्सन के मुहावरे में; ऐसी आत्मा होगा जो शरीर की खोज में भटक रहा हो जिसमें जीवन की शुरुआत कर सके और बिना उसे पाये मर जाता है।

अतः राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता की भावना भारत के लिए ज़रूरी तत्व हैं। इसीलिए धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अलगाव के कारण भारतीय राष्ट्रवाद पर इसके भीतर ही अलग–अलग तरह के राष्ट्रवाद पैदा होने के ख़तरे रहेंगे। इसीलिए डा॰ अम्बेडकर कहते हैं कि 'राष्ट्र मौजूद नहीं होता इसका सृजन करना होता है, और मेरे विचार से यह स्वीकार्य होगा कि विशिष्ट एवं अलग समुदाय को बलपूर्वक दबाना किसी राष्ट्र के सृजन का तरीक़ा नहीं हो सकता है।' आशय यह कि राष्ट्र के सृजन में समुदायों को साथ लेकर चलने के लिए ऐसा वातावरण पैदा होना चाहिए ताकि उनकी स्वतः ही दिलचस्पी बढ़े और ऐसा मात्र सह–असित्व और आत्मीयता की भावना से ही संभव है। विचारणीय यह है कि डा॰ अम्बेडकर उपरोक्त कथन में किस प्रकार के राष्ट्र की परिकल्पना करते हैं। निश्चित रूप से वे भारत को धर्म, सम्प्रदाय एवं जाति विहीन बनाकर मानवीय प्रेम, मानवीय सम्मान एवं सह अस्तित्व की भावना को ही एक राष्ट्र की ज़रूरी शर्त मानते हैं क्योंकि सम्प्रदाय, जाति, धर्म ऐसी मानसिक स्थितियाँ हैं जो अपने से इतर के साथ सह अस्तित्व में बड़ी रुकावट पैदा करती हैं। इसीलिए भारतीय संविधान में धार्मिक आडम्बर एवं परम्परागत अंध–भक्ति के प्रभाव को ख़त्म कर विज्ञानवादी चेतना के विकास की बात की गई है और इसी रास्ते से हम धर्म–जाति और समप्रदाय की भावना से ऊपर उठकर एक राष्ट्र के रूप में अखण्ड भारत का निर्माण कर सकते हैं।

डा॰ अम्बेडकर के विचारों के बरअक्स आज के तथाकथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद (आतंकवाद?) के रूप, उसके तेवर, उसके चरित्र एवं उसके उद्देश्य की

पड़ताल से स्पष्ट हो जाता है कि आज भारतीय लोकतंत्र किस मोड़ पर खड़ा है और उसके भविष्य का क़दम किस ओर अग्रसर है। सबसे पहले हमें भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह पड़ताल कर लेना होगा कि यहाँ पर सांस्कृतिक शब्द के क्या मायने हैं– सांस्कृतिक पृथकता, सांस्कृतिक समन्वय, सांस्कृतिक संक्रमण एवं सांस्कृतिक विलयन या एकीकरण के क्या निहितार्थ हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में हम सांस्कृतिक आतंकवाद की शिनाख़्त करने की कोशिश करेंगे।

सभ्यता का स्वरूप भौतिक क्रमिक विकास से है जबकि संस्कृति का स्वरूप मानसिक क्रमिक विकास से है। संस्कृति और सभ्यता का अन्योन्याश्रित संबंध है अर्थात एक दूसरे पर निर्भरता और साथ ही साथ एक दूसरे के विकास में सहयोगी भूमिका। सभ्यता–मनुष्य–जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के क्रम में, उसे अधिक सुविधा सम्पन्न बनाने की दिशा में नित नये आयाम रचती रही है जिसने मनुष्य को अन्य जीव–जन्तुओं की तुलना में अधिक शक्ति–सम्पन्न बनाया है। इस दिशा में मनुष्य की बुद्धि ने उसके श्रम का साथ दिया। इसी कारण मनुष्य ने एक नियम–बद्ध तरीक़े से प्रकृति के साथ सामजंस्य बिठाकर अपने पक्ष में प्रकृति से बहुत कुछ प्राप्त करने का गुर सीखा। इसी सीख से उसने अपने अनुभव की बातों को अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जिससे आगे की पीढ़ियाँ उससे भी आगे का बौद्धिक सफ़र तय कर सकें। ऐसे हीं बौद्धिक संचरणों के भिन्न स्वरूपों एवं माध्यमों का विकास हुआ ताकि इसका संसरण एवं फैलाव अधिक लोगों तक हो और एक सामूहिक स्वीकार्यता में हो। इन्हीं आयामों ने एक साझा रहन–सहन, वेश–भूषा, मनोरंजन एवं ज्ञान–विज्ञान का विकास किया जो भौगोलिक समस्याओं के कारण विशेष क्षेत्रों तक सीमित रहीं। इसी कारण भौगोलिक सीमाओं के बाहर के ज्ञान–विज्ञान, रीति–रीवाज, तीज–त्यौहार व्रत–पूजा और मान्यताएँ भिन्न–भिन्न रही जिन्हें हम संस्कृति का नाम देते हैं।

यह भिन्नता ही विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों या समाजों की पहचान के रूप में एक बौद्धिक कौशल–पूर्ण परम्परा के रूप में सामयिक परिवर्तनों के साथ प्रधानतया अपने मूल स्वरूप में, हस्तान्तरित होती रही। इसकी विशिष्टता लंबे समय तक इसकी भौतिक सीमा में मजूद रहने के कारण भी है। सांस्कृतिक विकास की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने इसे अलग तथा विशिष्ठ बना रखा है। सभ्यता विकास के क्रम में भौगोलिक सीमाओं की अलंघ्ययता कम हुई जिससे संस्कृतियों के मिलन एवं आपसी आदान–प्रदान द्वारा परिवर्तन–परिवर्धन भी हुआ। कई बार अनुकूल परिस्थितियों में एक साझी संस्कृति ने भी आकार ग्रहण किया। लम्बे समय तक अपनी विशिष्ट अस्मिता बनाये रखने वाली संस्कृतियाँ आज भी एक दूसरे से पृथक हैं। यह पृथकता प्रायः विरोधी नहीं है।

यह लम्बे समय से पीढ़ी–दर–पीढ़ी विकसित जीवन–पद्धति अपनी अलग पहचान रखती है किन्तु सभी ऐसा ही करें यह आग्रह या अपेक्षा नहीं रखती। अपनी परम्परा से बँधे रहकर उसके प्रति मोह तथा आस्था होना एक बात है किन्तु दूसरी भिन्न संस्कृतियाँ भी इसी का अनुसरण करें, इसका दुराग्रह बिल्कुल अलग बात है।

ऐसे दुराग्रह भारतीय संस्कृति में प्रायः नहीं रहे हैं यही यहाँ की साझा संस्कृति की विशेषता है। जब हम भारतीयता की बात करते हैं तो हमें भारतीयता की ऐतिहासिक परम्पराओं में इसके स्रोत तलाशना लाजमी हो जाता है।

अब तक ज्ञात पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर हम यह मानते हैं कि भारतीयता का मूल उत्स हड़प्पाई है। प्रकृति के साथ सामन्जस्य, उसकी असीम सत्ता–शक्ति की स्वीकार्यता–फलतः उसकी श्रेष्ठता एवं विनाशक शक्ति के आगे नतमस्तक होकर उसकी पूजा आराधना। किन्तु इसका अर्थ यह क़तई नहीं कि इस पूजा आराधना के कारण मनुष्य ने प्रकृति पर नियंत्रण और उससे अपेक्षित फल प्राप्त करने की कोशिश छोड़ दी हो। ऐसा नहीं। मनुष्य अपने इन्हीं प्रकृति प्रदत्त अनुभवों को अपनी पारम्परिकता के साथ जोड़कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संस्कारित उपादान से लैस करता रहा। संस्कार या पाली का 'संखारा' का अर्थ ही पीढ़ी–दर पीढ़ी जाने–अनजाने हस्तांतरित होने वाले जीवन अनुभवों, गुणों, ज्ञान, संयम और परिस्थितियों से प्रतिक्रिया करने की आदतें। और इसीलिए ये संस्कार व्यक्तियों, परिवारों, कुनबों, कबीलों, समाजों में रूपान्तरित होकर एक साझा संस्कृति का निर्माण करता है– ऐसी संस्कृति जिसके कुछ न्यूनतम अवयव जो सभी कुनबों, कबीलों में सामान्यतः मान्य हों।

भौगोलिक पृथकता तथा भौगोलिक जलवायविक अन्तर के कारण भिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग संस्कृतियों का विकास हुआ लेकिन हड़प्पाई परिप्रेक्ष्य में सब का मूल स्रोत वही प्रकृति के साथ सहजीविता थी। इस प्रकार पूरे एशियाई क्षेत्र के दक्षिण–पश्चिम एवं दक्षिण–पूर्व परिक्षेत्र में एक सहजीवी संस्कृति का विकास हुआ जहाँ मनुष्यता सबसे अहम जीवन मूल्य रही और बाकी चीज़े उसी के इर्द–गिर्द घूमती रहीं। इसी जीवनानुभव और मूल्य को मनुष्य ने सभ्यता का नाम दिया जहाँ अपने जीने के अधिकार के साथ सहजीवी मनुष्य को भी जीने देने का कर्तव्य बोध विकसित हुआ। कुछ इसी प्रकार की संस्कृति द्वारा हड़प्पाई समाज ने सहजीविता और सहकारिता के ज़रिए बड़े–बड़े सार्वजनिक कार्यों को अंजाम दिया।

कालान्तर में मनुष्य की वर्चस्ववादिता ने अन्तर्समाजीय समूहों का निर्माण कर उन पर अपना आधिपत्य जमाना भ्गुरू किया। इसी क्रम में अन्तर्सांस्कृतिक समूहों के एक साथ आने तथा भौगोलिक सीमाएँ टूटने के कारण आपसी आदान–प्रदान द्वारा कई नई संस्कृतियों का सम्मिलित विकास होता रहा या कई संस्कृतियों का संलयन–विलयन होता रहा।

पुराने भारतीय गाँव अपने आप में स्वतंत्र सांस्कृतिक केन्द्र रहे लेकिन उनकी अलग बस्तियाँ अपने अलग अस्तित्व को ज़िन्दा रखे थीं। ऐतिहासिक कारणों से बाद के दिनों में अलग–अलग सांस्कृतिक समूहों द्वारा एक ही गाँव में बसाहट के कारण ही ऐसा हुआ। मूल (पुरानी) ग्रामीण सांस्कृतिक ईकाई बनी रही और उसके इर्द–गिर्द बाद के विस्तारित क्षेत्र में अलग संस्कृतियों ने अपना डेरा जमाया। बाद में आने वाले ये सांस्कृतिक समूह देसी–विदेशी आक्रमणों, प्रव्रजन तथा अन्य कई ऐतिहासिक

कारणों से पहले से बसे गाँवों में आबाद हुए किन्तु फिर भी मोटे तौर पर सहजीविता की सहिष्णुता प्रायः बनी रही। यह हड़प्पाई सांस्कृतिक सहजीविता वैदिक काल (१५०० ई॰ पूर्व) के बाद भी निर्बाध चलती रही।

इस प्रकार हड़प्पाई संस्कृति कमोवेश एक विज्ञान–सम्मत सांस्कृतिक चेतना को अंगीकार करने की दिशा में आगे बढ़ती रही तथा सहजीवी सहिष्णुता को अपने आचार संहिता में स्थान दिया। अहिंसा, चोरी न करना (अपरिग्रह), झूठ न बोलना आदि जीवन जीने के अभिन्न नियम बन गये जो कई भिन्न सांस्कृतिक ईकाइयों के लिए एक साझा मान्य नियम की तरह अंगीकृत हुए। इस प्रकार की आचार संहिता तथा ऐसी ही अन्य संहिताओं के प्रभाव में छोटे–छोटे सांस्कृतिक समूह एक बड़े छत्र के नीचे आने लगे जहाँ वे अपने सांस्कृतिक स्वरूप को बचाये रखकर इस वृहद जीवन–मार्ग का अनुसरण करते रहे। इस प्रकार के समूह अपनी सांस्कृतिक भिन्नता के ऊपर एक सामूहिक भावना में बँधकर साझा नाम और साझी पहचान ग्रहण करने लगे।

तथाकथित वैदिक कालीन साहित्य इस प्रकार की ग़ैर–हड़प्पाई सांस्कृतिक समूहों के भारत भूमि पर कहीं से आकर निवास करने की निशानदेही करता है। यह समूह दूसरों की सम्पत्ति छीनने हड़पने या युद्ध द्वारा जीतकर लेने में विश्वास करता है, जो भारतीय अपरिग्रह के उल्टी मान्यता है। यह समूह झूठ बोलकर, धोखा देकर, जालसाजी करके, षड्यंत्र करके, विश्वासघात करके दूसरों की सम्पत्ति हथियाने में विश्वास रखता है। यह समूह दूसरों की हत्या करके, उसकी सम्पत्ति हथियाने में विश्वास करता है। यह संस्कृति समूह मूलतः कोई आध्यात्मिकता या ध्यान पूजा में विश्वास नहीं रखता तथा भौतिकता में प्रायः विश्वास करता है। भौतिक उपलब्धि कराने हेतु इन्द्र की पूजा भी भौतिक रूप से ही अर्थात् सोम, मांस और सुन्दरियों का उपहार देकर। यहाँ आध्यात्म को महत्व नहीं दिया जाता तथा वैदिक काल के शुरूआती दिनों में तो अध्यात्म को 'नग्न श्रमणों का व्यसन' ही माना है, इस संस्कृति ने। और उत्तर वैदिक काल आते आते यह ग़ैर हड़प्पाई संस्कृति 'ब्राह्मण संस्कृति' के नाम से विहित होती है। चूँकि ऋग्वैदिक मूल आख्यानों में इसी ग़ैर–हड़प्पाई संस्कृति का दर्शन होता है अतः यह 'वैदिक संस्कृति' भी कही गयी है, हालाँकि ऋग्वेद के रचनाकार इस संस्कृति के पोषक थे। इस प्रकार यह 'ब्राह्मण संस्कृति' आगे चलकर वर्चस्ववादी संस्कृति के रूप में पनपी तथा राज्याश्रित होकर अपनी रीति–नीति को 'अब्राह्मण संस्कृति' (हड़प्पाई या मूल भारतीय संस्कृति) पर थोपने लगी। यह राजनैतिक अधिपत्य से इतर, अलग किस्म का आक्रमण था। इसी कारण दोनों संस्कृतियों में टकराव होता रहा। यही कारण है कि लम्बे समय तक टकराव के बाद भी आज तक इन दोनों संस्कृतियों की अलग–अलग पहचान तथा आस्मिता बची हुई है।

शासन–सत्ता में ब्राह्मण प्रभाव बढ़ने का क्रम शुरू ही हुआ था कि मुगल शासकों ने यहाँ कब्जा जमा लिया तथा एक बार फिर इस्लाम संस्कृति ने यहाँ की दो–फाँक संस्कृतियों को ज्यों का त्यों रहने दिया। ब्राह्मण संस्कृति ने सत्ता का दामन पकड़ा तथा रियाया के स्तर पर, अपनी प्रतिसंस्कृति के बल पर; हड़प्पाई

संस्कृति के दमन का कार्यक्रम चलाता रहा। मुगल सत्ता ने भी अपनी राजसत्ता बरकरार रखने के लिए यहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक हलचल में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। वैसे भी यह इस्लामी संस्कृति का वाहक था जो हड़प्पाई या श्रमण संस्कृति की प्रवृत्ति से थोड़ी अलग थी। इस्लामी संस्कृति में चोरी करने तथा झूठ की मनाही तो है जो श्रमण संस्कृति से मेल खाती है। किन्तु यहाँ हिंसा को कई मामलों में जायज़ ठहराया गया है जो ब्राह्मण संस्कृति से क़रीबी का मामला है। हिंसा में विश्वासी दो संस्कृतियों ने राजनैतिक और सामाजिक गठजोड़कर अपने द्वारा अपनी भूमिका बाँट ली। यहाँ के हड़प्पाई जनों पर दोहरा संकट था। श्रमण ध म्म के बरअक्स ब्राहमण धर्म अपनी पैठ अब्राह्मणों में बनाने में लग गया था। राजवंशों पर पहले ही डोरा डाल दिया गया था और तदन्दर वणिक समुदाय को क़ब्ज़े में लेता गया। बची हुई जनता के लिए इस्लामी संस्कृति और ब्राह्मण–संस्कृति कुआँ और खाई जैसी थी। ब्राह्मण को इस्लाम से शिकायत थी तो इतनी ही कि वहाँ सबको बराबर समझते हैं। किन्तु इस्लाम के बदले रूप ने वहाँ भी जाति का संपोषण किया तो ब्राह्मण संतुष्ट हो गया। और दोनों ओर के मुल्ला पुरोहितों ने हड़प्पाई जन की नाकेबन्दी कर दी। कुछ लोग इस्लाम भी कुबूल कर लिए किन्तु बात वहीं की वहीं रही। इस्लाम में मूर्ति पूजा का विरोध हुआ–यह भी ब्राह्मण के लिए असुविधा का कारण था। ब्राह्मण ने देखा कि हड़प्पाइयों का इस्लामीकरण भी ब्राह्मण के लिए ख़तरनाक ही है। इसीलिए तत्काल ही ब्राह्मण जाति के नाम वाले 'ब्राह्मण धर्म' को सीमित दायरे से बाहर निकालने के लिए 'हिन्दू धर्म' का जामा पहचाना गया तथा बताया गया कि इस्लाम के अलावा यहाँ के सभी लोग हिन्दू धर्मानुयायी हैं।

चूँकि फारसी लोग भारतवासियों को हिन्दू ही कहते थे इसलिए इस्लाम के शासकों तथा रहनुमाओं को यह बात जँची कि इस्लाम के अलावा यहाँ के लोग हिन्दू हैं। ब्राह्मण ने 'हिन्दू' शब्द की उस व्याख्या को धार्मिक जामा पहनाकर अपनी अल्पसंख्या को बहुसंख्या में बदलने की विसात बिछा दी। इस प्रकार उसने 'ब्राह्मण संस्कृति' और 'भारतीय संस्कृति' को हिन्दू धर्म नामकरण के नीचे ज़बरन और एक तरफ़ा लाकर इसे ही हिन्दू संस्कृति का छद्म नाम दे दिया। इस छद्म संस्कृति के बहाने एक तीर में दो निशाने थे– एक इस्लाम के विरुद्ध बहुसंख्यक का गणित जुटाना दूसरा अब्राह्मण संस्कृति के विरोध को दबाकर उसकी अगुवाई अपने हाथ में करना। इस काम के लिए इस्लामोफोबिया का प्रचार होने लगा। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति ने अपनी ज़मीन तैयार की है और आज भी यह सांस्कृतिक लड़ाई धार्मिक लड़ाई के छद्मवेश में है।

आज की सबसे बड़ी चुनौती है कि हिन्दू राष्ट्र निर्माण का नारा। और दुर्योगवश यह केवल किसी धार्मिक समूह द्वारा नहीं बल्कि प्रकारान्तर से सरकार के एजेन्डे में शामिल है क्योंकि यह आर॰एस॰एस॰ संस्था के एजेन्डे में शामिल है। आर॰एस॰एस॰ जैसी संस्थाएँ धार्मिक राष्ट्रवाद (हिन्दू) की हिमायती हैं तो आज का सत्तारूढ़ दल उनकी ही राजनैतिक शाखा जैसा लगता है। इसी कारण सरकार

को भी धार्मिक राष्ट्रवाद कायम करने की दिशा में तत्पर देखा जा सकता है। ऐसा धार्मिक राष्ट्रवाद भारत के कई टुकड़े कर देगा। स्पष्टतः हिन्दू राष्ट्र बनाने के लिए वर्तमान भारतीय भूगोल को हिन्दू सम्प्रदाय के लोगों के अधिकार में होना चाहिए अर्थात् दूसरी मान्यता के लोग या तो मार दिए जायँ या वे लोग यह देश छोड़ दें। यह दोनों ही स्थितियाँ भयावह तथा मुश्किल हैं। हिन्दू राष्ट्रवाद की वकालत करने वाले शायद यह कहेंगे कि 'यहाँ हिन्दू राष्ट्र व हिन्दू क़ानून लागू होगा जिसे रहना हो रहे या देश छोड़ दे।' यह ज़बरन हिन्दू या ब्राह्मण मान्यता को कुबूल कराने वाली बात है। इस संदर्भ में डॉ अम्बेडकर कहते हैं कि 'विशिष्ट एवं अलग समुदाय को बलपूर्वक दबाना किसी राष्ट्र के सृजन का तरीक़ा नहीं हो सकता' ऐसे में हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि डा॰ अम्बेडकर के सपनों का भारत ऐसा तो नहीं ही है जैसा हिन्दू राष्ट्रवाद के वर्तमान पहरेदार बनाना चाहते हैं।

इसलिए डॉ अम्बेडकर धर्मनिरपेक्षता के बारे में कहते हैं कि 'यह कहना बहुत अच्छा लगता है कि हमने संविधान में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य प्रस्तावित किया है। मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं कि जब कोई सदस्य धर्मनिरपेक्ष राज्य कहता है तो क्या उसका मततलब वही है जो कि संविधान कहना चाहता है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म मिटा सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि लोगों की धार्मिक भावनाओं का विचार नहीं करेंगे। एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि संसद किसी विशेष धर्म को बाकी किसी समुदाय पर थोप नहीं सकेगी। यही सीमा है जिसे संविधान संज्ञान में लेता है।'

बाबा साहब के उपर्युक्त स्पष्टीकरण एवं हिन्दू राष्ट्रवाद की धारणाओं को देखें तो पता चलता है कि संविधान के दायरे में भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाना कठिन है। इसीलिए कुछ लोग संविधान पर ख़तरे की आशंका से भी इंकार नहीं कर रहे हैं। अतः बाबा साहब के सपनों के भारत में सेकुलर राज्य का नामोनिशान मिटाने की तैयारी को क्या कहा जायेगा। यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर धार्मिक वर्चस्ववाद या आतंकवाद नहीं तो और क्या है?

डॉ अम्बेडकर के सपनों का भारत रक्तरंजित क्रान्ति के ज़रिए नहीं बनता बल्कि वह भगवान बुद्ध के बताए मार्ग से बनता है। डॉ अम्बेडकर मार्क्स की कई बातों से असहमत होकर शान्ति मार्ग अपनाने की सलाह देते हैं। इसलिए भारत में किसी भी वाद की अपेक्षा अम्बेडकरवाद अधिक प्रसांगिक अधिक व्यवहारिक और परिवर्तनकारी प्रतीत होता है। डॉ अम्बेडकर कहते हैं– 'मेरा दृढ़ विश्वास है कि संवैधानिक तरीक़े से ही सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। इसका मतलब हुआ कि हमें खूनी क्रान्ति का रास्ता छोड़ना होगा। इसका मतलब यह है कि हमें सविनय अवज्ञा, असहयोग आंदोलन और सत्याग्रह का रास्ता छोड़ना पड़ेगा। संवैधानिक विकल्प के अभाव में असंवैधानिक तौर–तरीकों को सही ठहराया जा सकता है। जब संवैधानिक विकल्प उपलब्ध है तो असंवैधानिक तौर–तरीका अराजकता के व्याकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जितनी जल्दी उसका त्याग कर दिया जाय उतना ही बेहतर है।'

इस प्रकार डॉ अम्बेडकर के सपनों का भारत वह होगा जहाँ सामाजिक लोकतंत्र को जल्दी बहाल कर दिया जाय अर्थात् जहाँ व्यक्ति को व्यक्ति के तौर पर पहचान कर अधिकार और सम्मान मिले न कि जाति या धर्म के आधार पर। इसके बिना राजनैतिक लोकतंत्र के साथ अर्न्तविरोध रहेगा तथा यह संविधान लम्बे समय तक टिके नहीं रह सकता। इसीलिए भारत को एक जातिविहीन धर्मनिरपेक्ष देश बनाना ही बाबा साहब के सपनों का भारत बनाना है।

डॉ अम्बेडकर एक सच्चे भारतीय के रूप में भारत राष्ट्र के निर्माण की हर बाधा विपदा को मिटाना चाहते थे। वे चाहते थे कि सभी जातियों को बराबर का हक मिले तथा उनका स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की त्रयी में बिना भेद–भाव के अनुकूलन हो। किन्तु डॉ अम्बेडकर का ऐसा संवैधानिक सपना भी हिन्दू कोड बिल के रूप में भारी विरोध का सामना करता रहा और अन्ततः क्षुब्ध होकर उन्होंने मंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया था। डा॰ अम्बेडकर की मान्यता थी कि जिस देश में स्त्री आजाद और शक्ति सम्पन्न होकर विकास की धुरी में बराबर के पहिए की तरह भूमिका निभाने से रोकी जायगी वहाँ की प्रगति अधूरी रहेगी। मनु का क़ानून हिन्दू राष्ट्रवाद की आदर्श संहिता है। अतः स्पष्ट है कि इसमें जिस प्रकार नारी को भी शूद्र की तरह ही समान नागरिक अधिकारों से महरूम किया गया है वह डा॰ अम्बेडकर के कल्पित भारत की तस्वीर से एकदम विपरीत है। इसलिए हिन्दू राष्ट्रवाद का आतंक समूची नारी जाति के लिए भी है। उन्हें शोषण की पुरानी परम्परा में नारकीय प्राणी बन जाने का ख़तरा है। इसी प्रकार के ख़तरे श्रमिक समाज को हैं। हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की मूल विचारधारा में ही समानता का नकार है। इसलिए यहाँ व्यक्ति पूजा भी सर्वमान्य है। व्यक्ति पूजा के ज़रिए ही तानाशाही का रास्ता है जो आम–जन के नागरिक अधिकारों की अवहेलना करता हुआ उनके साथ बर्बर पशुता का व्यवहार करता है। इसीलिए डा॰ अम्बेडकर व्यक्ति पूजा को लोकतंत्र के लिए ख़तरा मानते हैं और यही ख़तरा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का भी है। इसलिए यह ऐसा डर या आतंक है जो लोकतंत्र में विश्वास रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आतंक का पर्याय है।

आज डा॰ अम्बेडकर की जयकार और महिमा मंडन के पीछे उनके सपनों को साकार करनेवाले संविधान की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। लोकतंत्रीय प्रणाली की आधारभूत चुनाव प्रक्रिया तक में पादर्शिता न होने की शिकायतें मिल रही हैं किन्तु चुनाव आयोग जैसी स्वतंत्र संस्था भी इस मामले में जनता को कोई ठोस आश्वासन नहीं दे पा रही है। लोकतंत्र को बचाये रखने के जो प्रमुख स्तंभ हैं उन सब में पलीता लगाया जा रहा है। इस प्रकार से लोकतंत्र की संसदीय प्रणाली कब दम तोड़ दे कहा नहीं जा सकता।

●

दलित चिंतन

भारतीय समाज के जाति–रंग

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन*

श्रीराम की जय इसलिए कि श्रीराम नहीं होते तो हम नहीं होते। उनके समय पर किए गए हस्तक्षेप ने हमें बाल–बंधकी के पहले जाल से निकाला था। पहला इसलिए बाल बंधकों को मुक्त कराते हैं,वे चाहे नांबिल प्राइज पाने वाले हों या अन्य ख्याति पा लेने वाले वे बच्चों के भोजन और तालीम का कोई विकल्प नहीं दे पाते और सरकारी स्तरों पर बालसंरक्षण होता नहीं। अत वे आजाद देश के अघोषित सामाजिक गुलाम बनते हैं। 'श्रीराम' की कोशिश का भी वह प्राथमिक कदम था, जिससे मेरा और बहन माया का वजूद बचा। वरना आज हमारा अस्तित्व ही नहीं होता।

तो चलें प्रसंग को अग्रसारित करते हैं, बात करते हैं कि कौन हैं श्रीराम और ऐसा क्या था उनका काम और क्यों आ गया जुबां पर उनका नाम?

हुआ यह कि कल सबेरे–सबेरे छोटे भाई रमेश का फोन आया कि 'पाली वाले श्रीराम फूफा नहीं रहे।' सुन कर झटका लगा। इस कारण भी कि हम अभी अट्ठाइस नवबंर को तो उनसे मिल कर आए थे। अचानक ऐसा क्या हुआ कि चल बसे?' मैंने भाई से सवाल किया था। तो उसने बताया 'बूंदाबांदी हो रही थी और उन्हें पेशाब करने के लिए जाना था। चूंकि स्वच्छ भारत स्कीम के तहत भी उनके यहां शौचालय नहीं बना था। इस कारण खुले में ही जाना था।'

'क्यों नहीं बना?' मैंने सवाल किया था तो वह बोला– 'अरे भाई साहब कौन सी स्कीम पहुंचती है चमार–चूहड़ों के घरों तक, जो सरकार की पहुंचेगी? सत्तर साल हो गए आजादी के खुशहाली के आश्वासन मिले और बदहाली के हालात। अब तो भरोसो ही उठि गओ कै कबऊ हमऊ आजाद होंगें।' उसने श्रीराम के साथ अपने हालात जोड़ कर बात की। राजीव गांधी के राज में सौ में पन्द्रह पैसा पहुंचे तो थे, अब तो पांच पैसे हू नांय पहुंच रहे।

'गे बात कहो तो लात–घूंसा जरुर पहुंच जांगे।' तू कहानी छोड़ फूफा के बारे में आगे बता।' मैं उसे मुद्दे पर लेकर आया। तब उसने बताया 'फूफा रात में उठे पेशाब कन्नकूं मेघ तें भीगन तें बचन कूं अंगोछा तें मूड़ (सिर) ढांकि कें चार–पांच डग चले नाली की ओर कूं, रात्ते पै रपटन (फिसलन) है गई हती पांव

* संपर्क– प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन : वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

रपटि (फिसल) गओ और गिर पड़े। तब घर में सब सोइरए थे। काऊ कूं कछु पतो नाहीं चलो। गिरे तो मूढ़ (सिर) में चोट लग गई और फिर उठ न सके। दिन निकरे लोग उठे तो वे मरे परे मिले। दिल्ली में दिहाड़ी मजूरी कन्न आवन बान्न नें फोन पै खबरि दई है। दाह संस्कार सांय चार बजे है मैं जाइ रओ हूं तुम चलोगे का?' उसने मुझसे कहा।

'तू निकल, मैं दिल्ली में नहीं हूं।'

और मैं लौट गया उनकी यादों में। हमें सत्ताइस नबंवर को 'पाली–मुकीमपुर' में एक शादी में शामिल होना था। उसी बस्ती में फूफा का घर है। बुआ को गुजरे कई साल बीत गए हैं। एक अपढ़–गरीब बेटी और अनपढ़ बेटा है, जिसकी मजदूरी से परिवार का बमुश्किल गुजारा होता रहा है।

उस दिन घर से निकलते वक्त भाई ने कहा था 'सर्दी बहुत पड़ रही है, फूफा के पास गर्म कपड़े नहीं हैं। आप उनके लिए कोई स्वेटर–जर्सी ले चलें तो उस से उनके जाड़े कट जाएंगे और वे एकाध साल और जी पाएंगे।'

मुझे उसकी बात उचित लगी। हम जब गए तो भाई और उसकी पत्नी भी हमारे साथ गाड़ी में सवार हो लिए थे। जब हम अतरौली से पाली की ओर गुजर रहे थे तो भाई ने मां के साथ का कष्टकर सफर इन शब्दों में याद दिलाया।

'भाई साब का तुम्हें याद है? जब हम अम्मा के संग जा रस्ता तें नंगे पांव पैदल–पैदल जाते। नीचे तें धत्ती भभक रही होती और ऊपर तें सूरज आग बरसातो। अम्मा की जेब में फूटी कौड़ी हू नांय होती। हम खइवे–पीवे की कोई चीज नांय खरीद पाते। अम्मा धोती को पल्लू फारि कें हमारे पांइनु में बांधती तबऊ फफोले परि जाते। आज सड़क है, तुम्हारे पास गाड़ी है। पर अम्मा तो दुनिया में नांय है।'

'हां, तुम कह तो ठीक रहे हो उसने तो कुछ भी नहीं देखा। मुझे रोजगार मिलने से पहले ही चली गई। पर अब तक वैसे भी ना जी पाती। कौन दुनिया में हजार साल जीता है? देर सबेर सब चले ही जाते हैं।' हम बोलते–बतियाते गाड़ी चलाते 'पाली' पहुंच गए थे।

शादी की प्रक्रिया पर बात करना छोड़ते हैं। हां, उस शादी में मुझ से मिलने आए स्थानीय कालेज के कुछ अध्यापक और बहुजन समाज से जुड़े वकील साहब से जरुर अच्छी बातें हुई थीं। बरेली जाकर वहीं बस गए। इसी गांव के पहले पोस्ट ग्रेज्युएट दलित जो रेल विभाग के मालबाबू पद से हाल ही में सेवा निवृत्त हुए, नरोत्तम जी मेरा इंतजार कर रहे थे। डा. अम्बेडकर की प्रतिमा के पास नल पर स्नान के लिए और मैं निकल गया था फूफा 'श्रीराम' से मिलने। वे हंस कर गले मिले। मेरे साथ बहन माया थी। मैंने अपने हाथों से उन्हें गर्म ऊन की जर्सी पहना कर कामना की कि आप और जिएं, स्वस्थ रहें। बहन भाई ने उनके दाएं–बांए बैठ कर तस्वीर खिचाई जो उनके साथ की एक मात्र और इकलौती तस्वीर होगी। इसलिए कि मुलाकात के बीस दिनों के भीतर 18 दिसंबर, 2019 को उनकी मृत्यु की खबर आ गई थी। मैंने फूफा को लेकर पूरी कृतज्ञता के साथ 'जय श्रीराम' शीर्षक से एक संस्मरण लिखने की योजना बनाई। आखिर क्या यह कृतज्ञता अकारण थी? लगभग 93 वर्षीय श्रीराम जी से मुलाकात के पीछे एक

अविस्मरणीय घटना संज्ञान में थी। उसकी वजह से हम फूफा जी के प्रति बेहद कृतज्ञ थे। घटना का समय था लगभग 1969। उस दौरान श्रीराम ने देवदूत की तरह अपनी भूमिका निभाई थी। वरन आज न तो माया होती और न श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कोई अस्तित्व होता।

अब बताना यह है कि श्रीराम यानी उस गरीब अछूत व्यक्ति की भूमिका आखिर थी क्या ?

नए साल पर सब लोग तरह–तरह की तस्वीरें फेसबुक पर डाल रहे थे। मैं भी श्रीराम जी की तस्वीर साझा करना चाह रहा था। तस्वीर के नीचे कैपशन में लिखना चाह रहा था कि 'आपके सामने एक बुजुर्ग की ताजा तस्वीर है। ये हैं तिरानबे साल के श्रीराम चमार और इनके दांए–बांए हैं श्यौराज और माया। श्रीराम सन् 1969 के हीरो हैं।' आप कहेंगे कि ऐसा क्या किया था उस नाचीज अछूत ने? क्या कहीं चमार भी हीरो होते हैं? क्या वे अंग्रेजी जमाने की 'चमार रेजिमेंट' के सिपाही थे? जो द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी वीरता का प्रदर्शन कर आए थे।

जी ऐसा बिल्कुल नहीं है, बल्कि जिंदगी के कई ओर मोरचे भी होते हैं जिन पर बहादुरी और कायरी के प्रदर्शन होते हैं। चलिए बताया जाए कि 1969 के दौरान जब मैं आठ–नौ– का था और मेरी बहन माया दस–ग्यारह साल की थी तब पाली में हमारे सौतेले पिता भिखारी लाल ने हम दोनों को ईट भट्टा के ठेकेदार से कुछ रुपये पेशगी लेकर हमें बेच दिया था। हालांकि गरीब दलित बतौर पथेरे जब भट्टों पर जाते थे तो कुछ परिवार अपने बच्चों को भी साथ ले जाते थे। ऐसे बच्चों की कोई पढाई–लिखाई नहीं होती थी। यहां बालश्रम का शोषणकारी दमन चक्र चलता था। भट्टे के पथेरे बच्चों की शादियां नहीं होती थीं। जवान होने पर खास कर लड़कियों को किसी लड़के के साथ भाग जाना पड़ता था। परन्तु हम बच्चों के साथ तो और भी मुसीबत थी। क्योंकि हमारे साथ हमारा कोई अभिभावक नहीं जा रहा था। हमारे श्रम का मूल्य न्याय संगत भी नहीं होता था। वह तो पहले ही ले लिया गया था। मां को मुझ से अधिक बहन की चिंता थी, क्योंकि भट्ठों पर लड़कियां सुरक्षित नहीं रहती थीं। ऐसे में हमें उस जाल से बाहर निकालने में हमारी मदद इन्हीं श्रीराम ने की थी। उन्होंने यह खबर मेरे पैतृक गांव नदरोली और मेरी ननिहाल चंदौसी पहुंचाई थी वहां से कोई व्यक्ति मिर्जापुर गया, जहां बहन की शादी की बात चल रही थी। इंतजार हो रहा था कि वह बारह साल की हो जाए तो शादी करा दी जाए। सो तय दिन पर जब ठेकेदार हमें बेरहमी के साथ ट्रक में भर कर ले जा रहा था, मैं चूंकि छूटने के लिए अधिक उछल–कूद कर रहा था, इसलिए अम्मा को नजर से ओझिल होते ही उसने मेरे दोंनों पांव रस्सी से बांध कर पीछे कोने में डाल दिया था। बहन मेरे पास आकर डरी सहमी सी बैठ गई थी। दो–ढाई कोस चल कर प्याऊ पर ट्रक जैसे ही रुका, अचानक नियत समय और स्थान पर ये सब हमारे मुक्ति के फरिश्तों की तरह शिकारियों पर टूट पड़े थे। मेरे मामा अमर सिंह, ताऊ और मिर्जापुर से बहन के होने वाले जेठ बाबूराम और उनके साथ दो तीन लोग ट्क के सामने आकर खड़े हो गए। मुझे बांध कर ले जाने पर उन्होनें ठेकेदार को काफी खरी–खोटी सुनाईं। वह बोला मुझसे तो इन बच्चों पर काफी रुपए

लिए हैं भिखारी ने। उसने तो यहां तक कहा है कि इन बच्चों को कभी वापस लाने की भी जरुरत नहीं है।'

भिखारीलाल को बुलाया गया तो उसने हमारे बचाव पक्ष से कहा कि मेरे घर पर इन बच्चों ने अपनी मां के साथ आकर जो खाना खाया उसे ब्याज सहित वापस दो और इन्हें ले जाओ। उस पैसे से में ठेकेदार का कर्ज चुकता कर दूंगा। इस तरह काफी जद्दोजहद के बाद हमें आजाद कराया गया। घर जाते समय पता चला कि यह सब चमत्कार श्रीराम ही का था, क्योंकि इन सब तक उन्हीं ने मां का संदेश पहुंचाया था। वहां से फिर हम लौट कर पाली नहीं गए। अपने पुश्तैनी पैतृक गांव आए।

आज जब श्रीराम जी नहीं रहे तो वे बचपन के दिन स्मृतिपटल पर उतर आए। हमारे केस में श्रीराम जी की भूमिका बड़ी सूझबूझ वाली थी। परन्तु उनकी खुद की जिंदगी मजदूरी करते बीती। उनके बाप दादा से लेकर बच्चों तक को कोई शिक्षा कोई आरक्षण कभी नहीं मिला। हमारे साथी राजपूत, बनिया, कायस्थ ब्राह्मण दलितों में क्रीमीलेयर लागू कराने की बात करते हैं। श्रीराम की मजूरी के बकाया पैसे तो ये लोग दे लें फिर अपने जैसा क्रीमीलेयर कहना है तो कह लें।

ऐसे पात्र और प्रसंग अनेक हैं जिन पर मेरी आत्मकथा में पूरी बात नहीं हो सकी है। मसलन एक हैं, मेरे गंगी बब्बा! क्या जीवन था उनका। वे स्वराज प्राप्त देश में ऐसे लगते थे, जैसे अमेरिका के टाम्स काका वही हों। टाम्स एक अश्वेत दास थे।

x x x

चार मई की रात मैंने जय श्रीराम संस्मरण लिख कर पूरा किया था, मेरी अगली योजना थी, माया के बारे में लिखना। पर रात हो गई, थक कर बारह बजे विस्तर पर जा कर लेट गया। नींद अभी आई नहीं थी कि साढ़े बारह बजे फोन बजा। स्क्रीन पर 'माया बहन' लिखा दिखा, मेरा दिल धड़का। इसलिए कि अमूमन गांव में लोग दस बजे तक सो जाते हैं। बहन फोन कर रही है तो कोई खुशखबरी देने के लिए तो नहीं कर रही होगी। कुछ न कुछ अशुभ ही घटित हुआ होगा । वैसे भी हमें खुशी में कौन याद करने वाला है, हमें तो संकट में ही याद किया जाता है। 'हां दीदी, बोलो क्या बात है? इतनी रात फोन क्यों कर रही हो?

यह चार–पांच मई, 2020 की रात थी। कोरोना महामारी ने अब तक के सबसे अधिक विश्वव्यापी कहर ढाया था। बहन के बच्चों में आपस में लड़ाई हुई एक मात्र स्नातक बेरोजगार संजू के सिर में टांके आए थे और उसके पांव में भी चोट लगी थी। मेरा घर गाजियाबाद की बसुंधरा कॉलोनी के सेक्टर एक में हैं। जब बहन ने कहा –'भैया तुम अभी आ जाओ।' मैंने बताया कि यहां तालाबंदी है। हम बाहर नहीं निकल सकते। 'पर गाड़ियां तो चलती दिखती हैं।' 'वे स्थानीय सरकारी कर्मचारियों की गाड़ियां होंगी। बाहर कोई आ जा नहीं रहा। हमारा तो पार्क पर भी ताला लगा है। बस्स, बेटी बाहर जाती है। मीडिया में काम करने के कारण वह भी कम्पनी की गाड़ी में।'

वह दबाव बना रही थी। बहू ने थाने में रिपोर्ट दर्ज करा दी है। संजू का सिर

फूटू गया है। अब पुलिस मेरे बच्चों की हड्डियां तोड़ेगी और केस लगा कर जेल भेजेगी। पुलिस से बात कर या आकर बचा ले। थाने में फोन तो कर दे। मैंने कहा, मेरे पास थाने का नम्बर नहीं है किसी के पास हो तो नम्बर दो मैं बात करुंगा।

यह रात के एक बजे के बाद का समय था। बेटी अपनी शिफ्ट पूरी कर के आ चुकी थी। उसने अपने जूते कोरोना सुरक्षा कवच, सब उतार कर कपड़े बदल लिए थे। हालांकि, वह ड्यूटी के बाद हमसे दूरी बनाते हुए खाना रात ही में गर्म पानी से नहाकर खाना–खाकर सीधे अपने कमरे में जाती थी और हम अब तक सो गए होते थे। परन्तु आज उसने देखा कि पापा जाग ही नहीं रहे बल्कि परेशान हाल बतिया रहे हैं। ऐसी क्या समस्या है, जो फोन पर आधा घंटे से लगे हुए है। क्या बात है पापा? कुछ नहीं तुम्हारी बुआ का फोन है। बच्चे लड़ पड़े हैं। लड़–झगड़ कर थाने पहुंच गए हैं। बहन डर रही है कि पुलिस उन्हें मारपीट कर बंद न कर दें। थाना कौन–सा है नगली।' वह सुनती हुई अपने कमरे में चली गई। मैं बहन से बतिया रहा था। वह आई बोली नगली सैद थाना। मैंने इंचार्ज से बात कर ली है, वे मेडिकल कराकर छोड़ देंगे। बिल्कुल मारेंगे–पीटेंगे नहीं, बुआ को बता दो। और आप सो जाओ, पुलिस हमारा नेशनल चैनल देखती है।

पर माया को क्या पता, क्या हो रहा है? सबसे अच्छे मूढ़ मति जिन्हें न व्यापै जगत गति देश दुनिया के हालातों से उसको क्या लेना देना? इसलिए कि एक तो उसे काला अक्षर भैंस बराबर है। दूसरा उसके घर में न तो रेडियो है न कोई अखबार उस गांव में जाता है। कोई जाट–बामन का छोरी–छोरा शहर से समाचार लाता भी होगा, तो वह किसी चमारी से समाचार साझा करने क्यों जाएगा? सो मुझे माया के अज्ञान से खासी परेशानी हो रही थी। इसलिए कि मैं काल की कठोरता से उसे परिचित कराने में विफल हो रहा था। 6 मई को जब उसने फोन कर बताया था कि पांच गांव के पंच आए है, मैं नहीं जानता कि इस सोशल डिस्टेंसिंग के इस दौर में कैसे वे आ सके हैं। शिकबा यह कि तू नहीं आया। संजू फैसला करने को तैयार नहीं है।' मैंने संजू को समझाया। पर माया की समझ में कुछ नहीं आया। मैंने बताया कि 'देश में आज अब तक की सबसे ज्यादा 194 मौतें हुई हैं और 3875 नए लोगों में संक्रमण पाया गया है। ऐसे में लॉकडाउन का पालन करते हुए हमें घर ही में रहना है और तुम कह रही हो कि आ क्यों नहीं रहा? वैसे भी रात के एक बजे मैं निकल कर डेढ़ सौ किलोमीटर कितने समय में पहुंचता। रास्ते में गाड़ी खराब हो जाती, पेट्रोल खत्म हो जाता, तो? माया को न इन समस्याओं की जानकारी से न कोई मतलब, क्योंकि न तो उसका परिवार किसी दृष्टि से आदर्श है और न सीमित परिवार। यह अशिक्षा, अज्ञानता गरीबी का मिला परिणाम है। 6 मई पूरे दिन संजू को समझौता करने के लिए पूरे दिन प्रयास किये गए। वह नहीं माना। मैं तो अब कोर्ट में ही खीचूंगा इसे। छोटे भाई ने उसे मारा, यह गलत तो उसके साथ हुआ। पर अब पंचायत बैठी। सबने समझाया, जो दण्ड देना है तो आर्थिक–शारीरिक पर कोर्ट कचहरी तो कोई समाधान नहीं है। कहते हैं संजू की बहू नहीं मान रही।

गरीब लोग हैं। संजू बी.ए. करके सड़क पर बैठकर जूते गांठता है।

अशिक्षा और गरीबी के फलितार्थ कि माया का जीवन सफर भोलेपन और मूर्खता से भरा रहा है। 1991–92 के दौरान जब उसने हमें अपनी बेटी की शादी के मौके पर बुलाया था। तब कहा, मामा है दस हजार थाली में डाल। उसकी जेठानी बल्ले की पत्नी और ताने से मार रही थी।

'दिल्ली में नौकरी करै है। दस हजार का मायने रखें हैं?' मैं उन दिनों दिल्ली के एक स्कूल में टीजीटी लगा था और मेरा वेतन मात्र चौबीस सौ रुपया था। शादी हो चुकी थी, खर्चे बढ़ चुके थे और आठ सौ रुपया माहवार मकान किराया देना पड़ता था। सो मेरी हैसियत थाली में दस हजार डालने की नहीं थी। जो कुछ कपड़े–नकदी में दे पाया, माया उससे खुश नहीं हुई। उसके बाद करीब पन्द्रह साल तक बाकी किसी बच्चे की शादी में न तो उसने कभी बुलाया और न हम गए।

इधर पांच–छै साल से बगैर बुलाए ही हमने जाना–आना शुरु कर दिया था। माया भी दो तीन बार आई। मैं शुरु से कहता रहा बच्चे को पढ़ाओ, लड़कियों को पढ़ा कर पूरी उम्र होने पर अपने पैरों पर खड़ी होने के बाद ही उनकी शादियां करो। दारुबाजी बंद करो। यह कोई उपदेश नहीं बल्कि सीधी सामाजिक क्षति होती दिख रही है।

चार साल पीछे मुढ़कर देखते हैं, 8 नबंवर 2016 को प्रधानमंत्री जी ने नोटबंदी का ऐलान किया था। तब गरीबों मजूरों को भारी संकट का सामना करना पड़ा था। करोड़ो भारतीयों की तरह हमारे घर में भी वक्त भीड़ के लिए जो नकदी के रुप में रुपये रखे थे वे सब यकायक चलन से बाहर हो गए थे। आज भी पांच–पांच सौ के दस बारह नोट रखे हैं जो जहां–तहां लिफाफों में रखे मिले हैं।

उन दिनों हमने कुछ नोट बदली बैंक से की तो दो बार बरेली जाना हुआ। मुरादाबाद के पास माया अपने बेटे बहू के साथ पास के एक गांव में रह रही थी। हम रोड से जाते तो वहां पहुंचने से पूर्व ही फोन कर देते और चार–पांच हजार पकड़ा कर चले जाते। दो–तीन माह के अंतराल से ऐसा हम करते रहे और कहते रहे किसी तरह बच्चे पढ़ाओ, गांव की दबंग जातियों की गुलामी से निजात पाने के प्रयास करो। जूता गांठने के असम्मानित पेशे छोड़ो, कमसे कम बच्चों को तो पढ़ा लिखा कर इज्जत की जिन्दगी जीने लायक बनाओ।'

इधर दलितों की बड़ी दुर्दशा।हजारों में एक–दो पढ़ पाते हैं। नौकरी भी करने लायक बन जाए तो उसके आगे–पीछे नाते–रिश्तेदारों की हजारों की भीड़ होती है। यह अविद्या, अज्ञानता बेरोजगारी, कुरीतियों, बालविवाह, लम्बे परिवार भूखे नंगे बीमार बच्चे चारों तरफ दिखाई पड़ते हैं। कोई क्लास बन या आइ.ए.एस भी बन जाए तब भी। हजारों की जिंदगी तो इंसानी हकों से वंचित ही रहती है।

x x x

जिस कहानी में अपनी जिंदगी के दर्दनांक तजुर्बात शामिल हों तो वह बेकली दिलदारी पर ऐसी सवारी गांठती है कि मानों कोई सोते शेर की पीठ पर बिठा कर चला गया हो। बेटा कर लो सवारी' शेर–दिल तो तुम हो कहो जो कहना है। पर समय का शेर जाग उठा उसके जिस्म का रोया–रोया हरकत में है। समय का शेर दौड़ रहा है। सवार न उतर सकता है और न सवारी कर सकता है। उसकी आत्मकथा का हर प्रसंग पीड़ादायी होता है। माया की मजबूरी पर लिखना फिर

अपने दुखद अतीत डूबने जाने जैसा था। पर इन दिनों घटित हुए कुछ ऐसे प्रसंगों ने पीछा किया कि रुक कर, मुड़ कर देखना ही पड़ा। तो क्या देखा और किन प्रसंगों की बजह से? चलिए शुरु करते हैं अंतरजाति प्रेम के प्रमाणिक परिणाम। इस जाति तोड़क प्रक्रिया में क्या दो जातियां समान प्रभावित या लाभान्वित होती हैं?

इस बार करीब 12 साल बाद साहित्यिक मित्र बलबीर माधोपुरी और मैं केरल की साहित्यिक यात्रा में साथ–साथ थे। हम शंकराचार्य विश्वविद्यालय (एटमानूर) में यूजीसी के सहयोग से हुए तीन दिन के दलित साहित्य उत्सव में शामिल हुए थे। सह संयोजक अरुण कुमार ने बताया कि 'आयोजन की स्वीकृति आपके आने की मंजूरी देने से हुई। इसलिए आत्मकथा'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' यहां एम.ए.हिंदी के कोर्स में लगी है। इसलिए छात्रों, शिक्षकों और विशेषकर केन्द्र निदेशक डा. चन्द्रवदना, मित्र बलबीर माधोपुरी ने अपनी आत्मकथा 'छांग्यारुख' के अंग्रेजी पाठकों पर प्रभाव खास कर जाटों में आए बदलाव के बारे में बताया था। जाटों ने पंजाब के चमारों के साथ ज्यादतियां की थीं। पर अब वे रिलाइज कर रहे हैं। अब तक गांव में जितनी जातियां थीं उतने ही गुरुद्वारे थे। जाट अपने गुरुद्वारों में चमारों को नहीं जाने देते तो उन्होंने गुरु रविदास गुरुद्वारे बना लिए। मजहबी सिख भी उसी गुरुद्वारे में आने लगे। परन्तु अब एक ही गुरुद्वारे में संयुक्त अरदास होने लगी है।

बलबीर माधोपुरी के पास वामपंथी विचारों का अच्छा अनुभव था। उन्होंने मौलिक लेखन के अलावा 50 किताबों के अनुवाद किए हैं, खुद मेरी आत्मकथा (मेरा बचपन मेरे कंधों पर) का हिन्दी से पंजाबी अनुवाद बलबीर जी ने किया। मैं उनके साथ उनके गांव, बहन के गांव और उनकी सुसराल व साहित्य दोस्तों के घर गया था। मुझे उनके माता–पिता से उनके अनुभव सुनने का मौका मिला था। गांव से गुजरते हुए बलबीर जी ने उनके घर की ओर उंगली से इशारा कर के बताया था। 'यह जट्ट सिख कामरेड हुआ करते थे उन दिनों। परन्तु मैं स्कूल से ओता तें साड्डे बालों बिच कंगी हुई वेख कर जमीन ते मिट्टी उठा के साडे बालों बिच पा दित्ते सी।' बलबीर के मुताबिक कुछ जट्ट सिख जो विदेशों में रह रहे हैं, पढ़कर काफी बदल रहे हैं। यह लेखन का ही असर है जो मुझे उन्होंने बतौर सम्मान सोने का पैन भेंट किया है। इतना ही नहीं और भी चीजें भेंट कर रहे हैं।

बलबीर ने केरल के सेमिनार में कहा कि पंजाब के एक गांव में चमारों ने एक जाट–सिख के नाम का गुरुद्वारा बनाया। क्योंकि उसने अपनी सैकड़ों एकड़, जमीन चमारों के लड़के–लड़कियों को पढाने और रोजगार सिखाने के लिए दान कर दी और कहा मेरे बेटों के पास पर्याप्त प्रापर्टी है। मुझे फिक्र है अपने गांव के दलितों की सो गदर पार्टी में अमेरिका में काम कर चुके उन क्रान्तिकारी जाट सिख दिलीप सिंह के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए दलितों ने दिलीप सिंह के नाम का गुरुद्वारा बना लिया।

यह सच्चा क्रान्तिकारी मेरे ध्यान से नहीं उतरा। मैंने बलबीर जी से दिलीप जी की डिटेल मांगी। उन्होंने अंग्रेजी में जानकारी दी' श्री दिलीपसिंह जट्ट सिख थे। गांव नानगल कलान पंजाब के रहने वाले थे, वह यू.एस. में गदर पार्टी के सदस्य थे। उन्होंने देखा कि गांव में हमारे दलित बच्चों के लिए कोई स्कूल नहीं

है। सरकार भी उनके प्रति उदासीन हैं। जाति द्वेष के कारण गैरदलित उन्हें साथ पढ़ता–बढ़ता देखना पसंद नहीं कर रहे। इन बच्चों को कुछ करने लायक नहीं बनने दिया जाएगा तो मुल्क तरक्की कैसे करेगा? तो क्रान्तिकारी का क्या काम है? कुर्बानी किसे कहते हैं। उन्होंने अपनी कृषिभूमि दलित बच्चों की तालीम के नाम कुर्बान कर दी। तो क्यों न उनकी शहीदाना स्मृति को अमर किया जाए? उन्होंने न केवल जमीन दी बल्कि उद्देशिका में अछूतों और उनकी बालिकाओं की पढ़ाई पर विशेष जोर दिया। स्कूल बनाया, अंग्रेजी पंजाबी, गणित साइंस सभी विषयों के शिक्षकों की व्यवस्था कराई, सरकारी मान्यता और मदद ली। जबकि दिलीप सिंह के अपने बच्चे और परिवार मौजूद था। देश–भक्त–क्रान्तिकारी परिवारवादी होगा और वंचित लिखने का सम्मान कर रहे हैं। गांव के चार द्वार हैं जिनमें से एक द्वार दिलीप सिंह के स्कूल से पढ़ने वाले चमार–परिवारों ने बनाया है। इस द्वार पर उनका नाम अंकित है, 'सरदार दिलीप सिंह स्मृति द्वार'।

विगत तीन दशकों से पंजाब की आबोहबा में सांस्कृतिक रुप से काफी बदलाव आया है। गीत–संगीत में जात्याभिमान के भाव ध्वनित हो रहे थे। जाटों में से कई अश्लील पोप सिंगर आए। बड़े–बड़े फार्म–हाउस उन पर आगे पीछे उनके जाति सूचक लिखे रहते हैं। 'जट्ट दा पुत्तर' अधिक गाड़ियों पर लिखा मिलते हैं। स्वजाति गौरव कोई बुरी बात नहीं पर परजाति को तुच्छ, हीन या अछूत समझना उचित नहीं है। डेली ड्रंकिंग नशे में ड्राइविंग, जिस प्रकार वे छोटी जातियां मान कर दलितों को धकियाते चलते हैं, उसी प्रकार छोटी गाड़ियों को ओवरटेक करते जा रहे थे, कानफोडू–म्यूजिक बाडी विल्डर गबरु जबान ड्राइवरों की हरकतें देखते बनती थीं। परन्तु वे आए दिन चमारों से टकराते हैं। इधर कुछ सालों से कनाडा, अमेरिका गए चमारों ने भी पंजाब लौट कर बड़ी–बड़ी, मंहगी–महंगी गाड़ियां लीं और जाटों की तर्ज पर 'पुत्त चमारां दा' कहीं 'डेंजर चमार' और कहीं 'ग्रेट–चमार' लिखना शुरु किया। अपना संगीत विकसित किया और अश्लीलता के जबाव में शालीन गीत रिकॉर्ड किए। गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा भी व्यक्त की। गाने इतने शालीन कि बहन बेटियां गा सकें। गिन्नी माही ने 'डेंजर चमार' गा कर कनाड़ा, अमरीका इंग्लैंड अफ्रीका तक में धूम मवा दी। पंजाब के जाटों वाम रुझान के क्रान्तिकारियों की भी एक परंपरा भगत सिंह के समय से ही रही है। परन्तु जाति के सवाल को नजरंदाज करने का नतीजा यह हुआ कि गुरुओं की मानव समानता की परंपरा के बावजूद पंजाब के गांव में जितनी जातियां उतने उनके अलग गुरुद्वारे बन गए दलितों के अधिसंख्य गुरुद्वारे रविदास के नाम पर बने। क्योंकि गुरुग्रंथ साहिब में रविदास की वाणी भी शामिल है। असर उत्तर–प्रदेश तक आया। सहारनपुर जिले में जब जाटों–ठाकुरों ने अम्बेडकर की प्रतिमा तोड़ी। अम्बेडकर जयंती रोकी तो चमारों के बीच से चन्द्रशेखर आजाद ने कांशीराम की तर्ज पर अम्बेडकरवादी ग्रेट–चमार संगठन बनाया। तमाम दलित और अल्पसंख्यकों को साथ जोड़ा। संगठन आगे चलकर 'आजाद समाज पार्टी' में बदल गया।

x x x

यह कौन है जो अपनी बेपहचान की जिंदगी जीता है। फिलवक्त इसकी उम्र साठ को छूने वाली होगी। परन्तु इसने अब तक की पूरी जिंदगी में क्या किया? यह न तो एक अक्षर पढ़ा न इसने कोई हुनर सीखा पर इसने होश संभालते ही बेहोश रहने की लत पकड़ी। जब मैं दस–बारह वर्ष का था और यह मुझ से भी कुछ छोटा। मेरा इससे परिचय बहन के देवर के रूप में हुआ। बहन का विवाह तो मटरु चमार के बेटे गंगाबासी से हुआ था, पर यह हरभजन नामक बालक मुझे सियाराम जाट के घर लेकर गया था। जाट का बड़ा घर था बैल, भैंसें कृषियंत्र, खेत जोतने, चारा काटने की मशीनें एक संपन्न किसान संभव होने वाला और बहुत कुछ देखा था वहां। बालक बेरोक टोक उस घर में दाखिल हुआ था। वह कुटिया में घुस कर गुड़ शक्कर निकाल रहा था और रसोई में पक रहे दूध का वर्तन उठा कर अपने लिए और मेरे लिए दूध के गिलास भर रहा था। उस समय पचास–पचपन के रहे होंगे चौधरी सियाराम, बड़ी आत्मीयता से पास बिठा कर अपनी बेऔलादी पत्नी से कह रहे थे – अरे ये बच्चे खाली दूध पीएंगे या इन्हें कुछ खिलाएगी भी? भज्जन तो घर का है, ये मेहमान श्यौराज फिर कब आएगा?

इतने प्यार और लगाव का कारण पता लगते देर नहीं हुई। वह यह कि रामसाय जाट जब जवान थे। उन्होंने भज्जन की मां फूलवती चमारिन को अपने घर में रख लिया था। भज्जन का जन्म उन्हीं के घर में हुआ था। परन्तु फूलवती उनकी वैध पत्नी नहीं थी। इस कारण जाति–प्रतिष्ठा और सामाजिक दबाव के कारण चौधरी सियाराम ने फूलवती और उसके बच्चे को मटरु चमार के घर छोड़ दिया। हालांकि उन्होंने बच्चे का खर्चा उठाना चाहा। परन्तु अपने ब्याहता पति से नजरें नहीं मिला पा रही थी। पर वह अपने नवजात बच्चे के प्रति फिक्रमंद थी। मटरु के लिए बिरादरी में यह मुंह दिखाने लायक बात नहीं थी। वे पत्नी को कुछ नहीं कहते थे। पर फूलवती उनकी गुमशुम–खामोशी की भाषा समझ रही थी। वह चाहती थी कि पति उसे मारे–पीटे गुस्सा करे ताकि उसके मन का बोझ हल्का हो जाए। उधर चौधरी भी सुबह शाम चक्कर लगाता था। वह अपने बच्चे को देख जाता था। उसका संकट यह भी था कि उसकी ब्याहता चौधराइन बांझ थीं। उनके कोई बच्चा नहीं था। एक बार उन्होंने मटरु से कहा मेरा बच्चा मुझे दे दो तो मैं इसे गोद ले लूं। मटरु ने हामी भी भर ली थी। परन्तु चौधरी के परिवार ने ऐसा नहीं करने दिया। उन्होंने कहा बेशक बच्चा तुम्हारा, पर पैदा तो चमारिन के पेट से हुआ है। गोद लोगे तो सारी संपत्ति का वारिस भी वही बनेगा।

फूलवती प्रायश्चित करने की ओर अग्रसर हुई। उसने पति से कई बार पूछा आप मुझे माफ करने के लिए क्या सजा देना चाहेंगे? मैं अपने बच्चे के लिए जीना चाहूंगी और अपनी करनी के लिए हर सजा भुगतना चाहूंगी।

मटरु ने कुछ नहीं कहा और फूलवती को उनकी खामोशी असहनीय हो गई। उसने उसे गौर से सुना। ग्लानि, प्रायश्चित और विकल्पहीन भविष्य की सोचकर आखिरकार उसने आत्महत्या का रास्ता चुना।

अब बालक भज्जन के पास जैविक और सामाजिक दो पिता थे और माता

एक भी नहीं। ऐसे में वह पला और बड़ा तो हुआ परन्तु उसके साथ पहचान का संकट जुड़ा रहा। उसमें कोई गुण विकसित नहीं हुआ। भज्जन के अलावा फूलवती के मटरु से पैदा तीन बच्चे और थे। दो बेटियां चंदरो ,मंदरो और बेटा गंगावासी। मटरु पत्नी के कृत्य से दुखी तो थे परन्तु फुलवती का सदमा नहीं सह सके। गंगावासी की शादी के बाद वे फूलवती–फूलवती करने लगे और जल्दी ही दुनिया से चले गए।

माया का ब्याह बारह साल की उम्र में बीस साल के गंगावासी से हुआ था। शादी के दो साल बाद दिल्ली के इर्विन अस्पताल में गंगावासी की मृत्यु हो गई। माया को खबर मिली। उसने गंगावासी के बेटे को जन्म दिया था।

भज्जन अनपढ़ उजड्ड था। वह रोज झगड़ता, नशा करता और चौधरी के दरवाजे पर पहुंच जाता। चौधरी ने चमारों को बिठा कर माया का पुनर्विवाह भज्जन से करा दिया। अब चौधरी वृद्ध होने लगे तो उन्होंने अपनी जमीन घर भज्जन के नाम करने का ऐलान कर दिया। जब वे रजिस्ट्री कराने जाने वाले थे तो उन्हें भाई–भतीजे और बहन–भानजों ने घेर लिया। ऐसे में आंशिक हिस्सा चौबीस बीघा जमीन ही भज्जन के नाम करने दी और घर संपत्ति में से कुछ भी नहीं लेने दिया। इससे परेशान भज्जन ने अपने पीने की मात्रा और बढ़ा दी। इसका फायदा उठा कर चौधरी के गुजर जाने के बाद उनके परिवारी जनों ने भज्जन को कुछ डरा कर और कुछ पिला–खिला कर चौधरी द्वारा दी गई सारी जमीन उससे लिखा ली।

चालीस साल के अंतराल में भज्जन माया के कई बच्चों के पिता बने। परन्तु वे सुबह से शाम तक नशा और फिर नशा, इसके अलावा कुछ नहीं।

मेरे मानस में जाटों की कई छवियां कौंध रही थीं। मैं अपने ज्ञान और अनुभव दोनों के आलोक में उन छवियों को देख रहा था। एक तरह से मेरे आत्म का संसार खुल रहा था। वैसे तो हरेक सच्चा आत्मकथाकार सबसे पहले अपने आप से जूझता है, अपने आपको नंगा करना हृदय विदारक होता है। खास कर ऐसे समाज में, जहां लोग संपन्नता की शेखियां बघारते न थकते हों।

जाटों और चमारों के अच्छे–बुरे कई किस्से मेंरे जहन में कौंध रह थे, जिसके बीच अंतरजाति प्रेमविवाह मौत के कारण बन सकते हैं ।

दलित आदिवासी लड़की यदि कमाती है तो संभव हो तो हो, 'द हिंदू' में एक लेख आया कि ओबीसी दलित मिलकर बनता है बहुजन ग्रुप। परन्तु कोई यादव या जाट अपनी बेटी की शादी दलित आदिवासी से करना पसंद नहीं करता, जबकि दलित, आदिवासी, कायस्थ, बनिया लड़कियां जाटों के घरों की बहू बनी हैं। पर दलित लड़कियों के साथ प्रेम के बदले विश्वासघात किए हैं, उन्हें पत्नी का दर्जा न देकर रखैल बनाया गया है। फूलवती को मैंने नहीं देखा लेकिन एक सहायक डाक्टर दलित लड़की का किस्सा मेरे संज्ञान में आया है। लालच, ब्लैक–मेलिंग इत्यादि प्रकार के कितने ही प्रसंग है।

चन्दौसी के पप्पू जाटवों में उभरते युवा नेता हैं। उन्होंने दलितों की तमाम उपजातियों के साथ मिल कर दलित युवाओं का संगठन बनाया था। इस संगठन में वाल्मीकि समाज के कई तेजतर्रार युवा सक्रिय थे। मैं स्वयं इनके बीच गया हूं।

1980 से 1990 के दशक के मेरे सक्रिय दिनों के युवा अब अधेड़ हो गए हैं। बल्कि उनके बच्चे सामाजिक कार्यों में आनें लगे हैं। पप्पू यानी सूर्यजीत के साले ने बिलारी क्षेत्र के एक जाट की बेटी से प्रेम विवाह कर लिया था। परन्तु जाट परिवार को स्वीकार नहीं था। लड़की–लड़का सात आठ माह तक छिपते–छिपाते एक दिन हमारे घर आए, तो लड़की कह रही थी कि मेरे घर वाले देखते ही गोली मार देंगे।

हम बात कर रहे थे कि ये बच्चे साझा जीवन कैसे बसर करेंगे? जब तक अंतरजाति विवाह नहीं होंगे? हमने उनसे कहा कि जबतक अलग–अलग जातियों का खून मिश्रित नहीं होगा, तब तक जाति बंधन टूटने तो दूर रहे, ढीले भी नहीं होंगे। मै इस निष्कर्ष पर था कि इनकी दोस्ती ज्यादा चलेगी नहीं। कारण जाति तो था ही उनकी जीविका का मसला भी था। लड़की की योग्यता लैक्चरर बनने लायक थी। परन्तु पप्पू के साले की बी.ए., एम.ए. बिना किसी प्रशिक्षण के अभाव में वह कहीं नौकरी पा सकेगा, ऐसा संभव नहीं है। लड़की को लग रहा था कि आरक्षण उसके पति को रोजगार दिला देगा। पर यह गैर दलितों की अफवाहजन्य भ्रम ही था, जिसमें प्रायः कहा जाता है कि दलित को तो कोई खास योग्यता की जरूरत ही नहीं होती है। उन्हें तो आरक्षण मिलता है। पर मुझे जो दो आशंकाएं थीं–

1. रोजगार नहीं मिलेगा।
2. यह जाट–जाटव प्रेम विवाह चलेगा नहीं।

आज 10 मई 2020 को पप्पू की मार्फत मेरी शंका की पुष्टि हुई है। जाट जाति की युवती परिवार के संपर्क में आ गई और जाटव युवक को जान से मारने की धमकी मिलने लगी। युवती का पिता किसी केस में जेल चला गया। ऐसे में तलाक संपन्न हो गया, जान बची और लाखो पाए।

जाटों और जाटवों के बीच विवाह संबंध कठिन हैं। बहुजन दायरे में आने वाली ओबीसी–शूद्र जातियों में से यादव–जाटव, लोध–चमार, गुर्जर–वाल्मीकि के बीच अंतरजाति प्रेम विवाह नहीं हो रहे। इन जातियों के लीडर भी आह्वान नहीं कर रहे।

पंजाब की कुम्हार जाति में पैदा हुए संत राम बी.ए. ने जाति–पांति तोड़ो मंडल बनाया था। उन्होंने अपने बच्चों की शादियां जाति तोड़ कर कीं। परन्तु वे उन हिंदू ग्रंथों को नहीं नकार सके जिनमें वर्ण–जातियों का भेदभाव एक धर्मसंगत व्यवस्था बनाई गई है। डा. अम्बेडकर के अध्यक्षीय भाषण में उन ग्रंथों को नकारने का आग्रह था। जबकि जाति–पांति तोड़क मंडल ने यही संशोधन की मांग की जिसे डा. अम्बेडकर ने नकार दिया था। नतीजा यह कि वे अपना लिखित भाषण प्रेषित करने के बाद अध्यक्षता करने के लिए नहीं आए।

लगभग 80–90 साल बीत गए कुछ नहीं बदला। मजेदार बात कि वामपंथी दलों ने जो जाति नहीं मानते हैं, कहा परन्तु छापा, तिलक जनेऊ धारण कर जातिसूचक सरनेम आगे कर मंदिरों के पुजारियों की तरह कम्युनिस्ट नेता क्रान्ति–क्रान्ति का आलाप करते रहे। बात अपने समय और अपने अनुभव की की जाए, मुझे लगता यह रहा है कि सिख धर्म धर्म होकर भी बाकी धर्मों की अपेक्षा प्रगतिशील है। पंजाब में इसका असर अधिक है।

मैं अठारह मार्च 1919 को सुबह शताब्दी से चण्डीगढ़ पहुंच गया था। पंजाब यूनिवर्सिटी में मुझे एक पी–एच.डी. शोधार्थी कुमारी सुजाता की मौखिक परीक्षा लेनी थी। विभाग से अग्रिम जारी सूचना पाकर विवि. की डिप्टी लाइब्रेरियन करुणा ने मुझे फोन किया था और मिलने का समय मांगा था। करुणा हमारे दिवंगत मित्र और लेखक डा. धर्मवीर की मंझली बेटी है। मैंने उसे सांय तीन से चार बजे का समय दिया।

मौखिकी के बाद खाना और सांय तक मेरे ठहरने का प्रबंध यूनिवर्सिटी गेस्ट हाउस में किया गया था। मैं खाना खा रहा था। उसी समय एक प्रोफेसर साहब आए। उनका विषय मुझे याद नहीं पर दो बातें उनके बारे में याद है जो उन्हीं से मालूम हुई थीं।

एक तो वे प्रगतिशील लेखन धारा से ताल्लुक रखते हैं–यानी वामपंथी हैं।

दूसरे वे पंजाब की डौमिनेंट कास्ट 'जाट' से संबद्ध हैं परन्तु वे जाति तोड़ने की इच्छा रखते हैं। इस दिशा में प्राप्त हुई सफलता के बारे में उन्होंने बताया कि– मेरा एक प्रोफेसर दोस्त है। उसकी बेटी भी टीचिंग में है। उसे एक चमार प्रोफेसर से प्रेम हो गया। तो उसने मेरे दोस्त से कहा कि वह अपने प्रेमी से शादी करना चाहती है। तो मेरे दोस्त ने कहा मेरे जिंदा रहते तो नहीं कर सकती। करनी है तो तू या तो मुझे मार दे वरना मैं तेरे चमार प्रेमी को मार दूंगा।

लड़की नहीं मानी उसने रिस्क लिया और पिता की मर्जी के खिलाफ शादी कर ली। दोस्त को लगा उसकी नाक कट गई। वह मुंह दिखाने लायक नहीं रहा। जबकि वह बड़ा क्रन्तिकारी विचारों का मार्क्सवादी बंदा है। हमने उसे समझाया तो उसने बेटी को विधवा करने का विचार तो छोड़ दिया, लेकिन उसे कभी घर में नहीं घुसने दिया 'तेरा मुंह नहीं देखूंगा और न अपना दिखाऊँगा।' ऐसी जिद कर बैठा।

वर्षों गुजर गए। बेटी को बच्चा भी हो गया। अब जाकर माना है कि चलो दामाद से मिलूंगा। बेटी के बच्चे को गोद में खिलाऊँगी। कोई कुछ कहता है तो कहूंगा मेरा दामाद नामी प्रोफेसर है। जाति क्या होती है? हमारे गुरु नानक ने कहा था नीचों में जो सबसे नीचा हो, वह मैं हूं। गुरुगोविंद के पंच प्यारे कौन थे? गुरु का शीश कौन लाया था? उनका वंशज मेरा दामाद नीचा कैसे हो सकता है किसी जाट से ?

आज उसके ऐसे बोल थे। मैं उसके साथ दामाद–बेटी के घर गया था। बहुत खुश होकर लौटा है मेरा दोस्त।

अब करुणा के आने का समय हो गया था। वह आई। उसने अपने घर की, डॉ. धर्मवीर की और छोटी बहन द्वारा किए गए व्यवहार की कहानी सुनाई। करुणा के साथ उसकी सहेली शीलू भी थी। शीलू एडवोकेट है। वह बता रही थी कि जिन दिनों डा. धर्मवीर अपनी आत्मकथा पर काम कर रहे थे, वे घंटों बतियाया करते थे। मुझे पांच पन्द्रह की शताब्दी से लौटना था। मैनें बताया तो शीलू ने फोन किया और उसका दोस्त गाड़ी लेकर आया। शीलू बहुत हंसाती थी चुटकले सुना सुना कर, सो वह स्टेशन तक हंसाती आयी।

स्टेशन पर तस्वीरें लीं और मैं शताब्दी में चढ़ गया।

मुसीबत का नाम माया।

माया, यह नाम कितनी महान हस्तियों से सम्बद्ध महाकारुणिक बुद्ध भगवान की मां का नाम महा–माया। अश्वेत लेखक और अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बाराक ओबामा की बहन माया, हिन्दी दलित साहित्य के आधार स्तंभ ओमप्रकाश वाल्मीकि की बहन माया। और फिर आपके इस श्यौराज सिंह 'बेचैन' की बहन भी माया। पर यह माया तो जीवन की सामान्य से भी वंचित मुसीबत का पर्याय कैसे हो गई। जाट जिंदगी से माया का क्या वास्ता और वह लिखने की क्या जरुरत? जबकि मैं केरल से लौटते वक्त बलबीर जी के साथ जाटों से संबंधित अनुभव साझा कर रहा था। कंझावला में सातवें दशक में बनी जाट यूनियन जिसे बाद में किसान यूनियन भी कहा गया। यह दलितों के आरक्षण के विरोध के लिए बनी थी। ज्यादा संख्या में इन ओबीसी जातियों द्वारा खासकर चमारों पर हमलों के अनेक किस्से मिलते हैं। दबंगों में जाट, यादव, राजपूत सबसे आगे दिखाई पड़ते है। सबसे अधिक अंतरजाति प्रेम विवाह दलितों के ब्राह्मण युवा–युवतियों के बीच हुए हैं। तो यह क्या पेच है, क्या पहेली है?

पर मैं दुस्साहस कर रहा हूं वह सब कहने का जो किसी भी भाई को बहन की पारिवारिक जिंदगी के ऐसे काले सच को लिखने से पहले सौ बार सोचना पड़ता है। मैं स्वयं भी भीतर से हिल सा गया हूं। विगत तीस–पैंतीस साल से कलम घसीट रहा हूं। यह प्रसंग लिखूं, ना लिखूं सोचता रहा हूं। पहले भाग में भी लिखता मिटाता रहा। अंततः हिम्मत नहीं जुटा सका। मेरी खुद की जिंदगी तक सीमित रहा होता यह प्रसंग तो संभवतया लिख भी दिया होता। पर अब लिखना लाजिमी लग रहा है। और भी दुखद कि सच सीधा अपने जीवन का न हो किसी अपने के बारे में हो। सच ऐसा जिससे समाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी हो और भूमिका भी इसलिए कि शायद कहने की शक्ति कहीं से प्राप्त होती हो।

जाति को अच्छा बुरा कहना किसी को नहीं भाता।इसे व्यक्तिगत मान लिया जाता है। लेकिन एक जाति के अधिसंख्य लोगों का स्वभाव व व्यवहार दूसरी जाति के प्रति एक जैसा हो तो वह जातिगत क्यों नहीं माना जाए? बहन माया, माया की मजूरी और सियाराम जाट का बेटा चमारिन माया की मजूरी और सियाराम जाट का बेटा चमार।

बात माया की कर रहा था। माया की जिंदगी इस जाट–पूत भज्जन के साथ बीत गई। आज करीब पैंसठ की उम्र में उसने बताया कि वह गांव के स्कूल में सुवह शाम झाड़ू लगाती है, जिससे उसे पांच सौ रुपये मात्र मिलते हैं। बेटों ने घरों पर कब्जे कर लिए हैं और माया अपने ही गांव में भज्जन के साथ बल्ले के मकान में किराए पर रहती है। किराया भी पांच सौ मासिक है। उसका खाना रहना? घर के लिए छोटे भाई ने और मैंने मदद की है, पर आपस में लड़ रहे बेटे तो पुलिस को खिला रहे हैं?

क्या किया जा सकता है। बजाय इसके कि उन्हें नियति के सहारे छोड़ दिया जाए?

●

दलित चिंतन

आजीवक धर्म में पितृसत्ता

कैलाश दहिया*

दुनिया भर में हर साल जून महीने के तीसरे रविवार को 'फादर्स डे' मनाया जाता है। इस साल 21 जून, 2020 को भी 'फादर्स डे' मनाया गया। इस दिन जिन लोगों के पिता नहीं रहे वे उन्हें याद करते हैं, और जिन के पिता हैं वे उन के साथ सेलिब्रेट करते हैं। एक तरह से यह दिन साल दर साल उत्सव में बदलता जा रहा है। जो सही भी है, क्योंकि संतान की पैदाइश में पिता की भी उतनी ही भूमिका है जितनी मां की। तो सभ्य सभ्यताएं 'मदर्स डे' और 'फादर्स डे' को बेहद गरिमा से मनाती हैं। उधर जार कैसे फादर्स डे का समर्थन कर सकता है, जब उसे पता ही नहीं रहता कि उस के जारकर्म की पैदाइश कहां–कहां पल रही हैं। वह जारिणी से बच्चे जरूर पैदा करता है लेकिन उन के पालन पोषण से भागता फिरता है। ऐसे में यह भी स्वाभाविक है कि जारकर्म की पैदाइश कोई 'अक्करमाशी' फादर्स डे कैसे मना सकता है?

इधर, देखा गया है कि कुछ दलित लेखक–लेखिकाओं के दिमाग इस हद तक कुंद हो चुके हैं कि ये फादर्स डे का विरोध करते पाए जाते हैं। इन्होंने पता नहीं पितृसत्ता का क्या मतलब निकाला हुआ है, ये मंचों पर भी पिता के रूप में पुरुष को कोसते पाए जाते हैं। ऐसे में आजीवक इन के बारे में 'जारकर्म के सिद्धांत' के अंतर्गत अर्थ निकालने को स्वतंत्र हैं। मराठी दलित लेखक–लेखिकाओं का तो पितृसत्ता का विरोध करना कुछ हद तक समझ में आता है, क्योंकि अक्करमाशी, छोरा कोलाहटी का और ऐसी ही आत्मकथाओं में इन के दर्द व्यक्त हुए हैं। कई मराठी लेखिकाएं भी जारकर्म के पक्ष में अपना लेखन कर चुकी हैं, ऐसे में इन की तरफ से पितृसत्ता का विरोध आ सकता है। लेकिन, इधर तो कबीर और धर्मवीर अपनी लाठी से जार की कमर तोड़ देते हैं। तब कुछ हिंदी दलित लेखक–लेखिकाओं का पितृसत्ता का विरोध करना किसी षड्यंत्र की तरफ ही इशारा करता है। इस पर तुर्रा यह है कि पितृसत्ता का विरोध करने वाले ये लिखाड़ी दलित अपने पिता की तारीफ करते देखे गए हैं। तब पता नहीं पितृसत्ता के विरोध के नाम पर ये किस पिता की आलोचना कर रहे होते हैं!

बताया जाए, मानव सभ्यता के विकास में अभी तक दो ही सत्ताएं रही हैं,

* संपर्क – 89–सी, ए 2 बी, एकता अपार्टमेंट, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110069

मातृसत्ता और पितृसत्ता। इन दोनों की आपसी प्रतिस्पर्धा की सारी दुनिया तारीफ करती है। इधर इन दोनों सत्ताओं से इतर तीसरी सत्ता की खोज की गई है, जिसे 'जारसत्ता' कहते हैं। इस जारसत्ता की खोज डॉ. धर्मवीर ने की है। यह कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से आगे की खोज है। तभी वे आज महान आजीवक चिंतक के रूप में जाने जा रहे हैं। डॉ. साहब ने लिखा है– 'मातृसत्ता भी ठीक है पितृसत्ता भी ठीक है और इन दोनों की आपसी होड़ और शिकायत भी ठीक है, पर यह तीसरी जारसत्ता कहां से आ धमकी है, जो विवाह और परिवार को खोखले और राष्ट्र को कमजोर कर रही है? असल में पितृसत्ता के विरोधी केवल पिता का विरोध करते पाए जाते हैं। ये यह कभी नहीं बताते कि ये चाहते क्या हैं। हां, कुछ स्त्रियां ऐसी हैं जो मातृसत्ता की बात करती हैं, और मातृसत्ता के नाम पर किसी से भी बच्चा पैदा करने की वकालत कर बैठती हैं। इस में रमणिका गुप्ता जैसी लिख बैठती है, 'पितृत्व मात्र विश्वास पर आधारित है लेकिन मातृत्व एक सत्य होता है। वह बच्चा अपनी मां की संतान हैं– क्या इतना प्रमाण काफी नहीं है पुरुष के लिए? उस पर पिता की मोहर क्यों लगे?' दरअसल, रमणिका गुप्ता की यही पंक्तियां हैं जो कुछ दलित लेखक–लेखिकाओं को पितृसत्ता के विरोध के लिए उकसाती हैं। ऐसे में दलित लेखक से पूछने का मन करता है, अगर उस की पत्नी अपने गर्भ में दूसरे का बीज लेकर आ गई, तो क्या वह उसे जिलाएगा? क्या वह उसका बाप होना स्वीकार करेगा? क्या वह उसका भरण–पोषण करेगा और अपनी जीवन भर की कमाई उस पर लुटाएगा? 'प्रेमचंद – सामंत का मुंशी' में इसी बात का खुलासा तो डॉ. धर्मवीर ने किया है। इस से पितृसत्ता का विरोध करने वाली तथाकथित दलित लेखिकाओं की मानसिक स्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है।

असल में, पितृसत्ता के विरोध का अर्थ जारसत्ता का समर्थन ही होता है। इसका अर्थ मातृसत्ता का पक्ष लेना कतई नहीं होता। कोई स्त्री अपने विवाहित पति से ही तो गर्भा होगी। अगर वह इस बात से इंकार करती है तो समझ जाइए वह जारकर्म के पक्ष में है, तभी डॉ. धर्मवीर कहते हैं – 'बच्चों के हक में सोचते – सोचते हम परिवार तक आए हैं, लेकिन परिवार के किसी भी नियोजन में यह पहले से ही सम्मिलित रहता है कि बच्चों की पैदाइश वैवाहिक पति से हो – और मैथुन विवाह से बाहर न हो। मनुष्य को इतना सभ्य बनना ही है, चाहे वह ब्राह्मण हो, सामंत हो, या दुनिया का कोई और।' तो दलित लेखक–लेखिकाएं जान लें, ये भी 'दुनिया का कोई और' के अंतर्गत ही आते हैं। दलित होने के नाते इन्हें कोई विशेषाधिकार मिलने नहीं जा रहे। यहां यह बताने में भी कोई हिचक नहीं है कि मातृसत्ता में भी जारकर्म पसरा पड़ा रहता है। जिस में पता ही नहीं लगता कि स्त्री किस–किस से बच्चे पैदा कर रही है। इस में स्त्री अपनी खुद की पैदा की संतान से बच्चे पैदा करती रही है, राहुल सांकृत्यायन ने इस बात की गवाही देते हुए लिखा है– 'निशा की भांति ही दूसरे परिवारों पर भी उनकी माताओं का शासन

था, पिता का नहीं। वस्तुतः वहां किस का पिता कौन है, यह बतलाना असंभव था। निशा को आठ पुत्रियां और छह पुत्र पैदा हुए, जिसमें चार लड़कियां और तीन पुत्र अब भी उसकी पचपन वर्ष की अवस्था में मौजूद हैं। इनके निशा – संतान होने में संदेह नहीं, क्योंकि इसके लिए प्रसव का साक्ष्य मौजूद है। किंतु उनका बाप कौन है, इसे बताना संभव नहीं है। निशा के पहले जब उसकी मां–बूढ़ी दादी– का राज्य था, तब बूढ़ी दादी– उस वक्त प्रौढ़ा– के कितने ही भाई पति, कितने ही पुत्र पति थे, जिन्होंने कितनी ही बार निशा के साथ नाचकर, गाकर उसके प्रेम का पात्र बनने में सफलता पाई थी, फिर स्वयं रानी बन जाने पर निशा की निरंतर बदलती प्रेमाकांक्षा को उसके भाई या सयाने पुत्र ठुकराने की हिम्मत नहीं रखते थे। इसीलिए निशा की जीवित सातों संतानों में किसका कौन बाप है, यह कहना असंभव है।'

ऐसा नहीं है कि सांकृत्यायन ही मातृसत्ता की ऐसी जानकारी रखते हैं। इन के पूर्वज वात्स्यायन ने तो ऐसी मातृसत्ता का जो वर्णन किया है उसे बताते हुए कलम भी रुकती है, उन्होंने लिखा है– 'उस अन्तः पुरवासिनी रमणी को एक तरुण गोदी में बैठाता था, दूसरा नाखूनों और दांतों से उस पर प्रहार करता है। तीसरा उससे संभोग करता है, चौथा मुंह चूमता है, पांचवां स्तनों में दांत गड़ाता है, इस प्रकार बारी–बारी से अनेक युवक राग बढ़ाते तथा रतिक्रिया तब तक करते रहते हैं जब तक वह स्त्री पूर्ण तृप्त नहीं हो जाती।' ऐसे ही भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है– 'मैं नारी हूं, पितृसत्ताक– युग से पूर्व मातृसत्ताक– युग की भारतीय नारी, जिसने वनों का शासन किया, जनों का निग्रह। तब मैं नितांत नग्नावस्था में गिरी– शिखरों पर कुलांच भरती थी,... पुरुष मेरा दास था, मेरे श्रम से उपार्जित आहार का आश्रित।... नर तब मेरा मुंह ताकता, मेरी भाव–भंगिमा देखता, मेरे तेवरों से कांप उठता। तब मैं जब चाहती, उसे बदल सकती थी। उसके कालभुक्त जर्जर गात से मेरी अभितृप्ति जब न होती, मैं तत्काल उसे उसके भाग्य पर छोड़ अन्यत्र चली जाती, तरुणायत पुत्र को उसका स्थानापन्न करती और अपनी स्थिति कमजोर देखते ही शक्तिमुखी कन्या के मार्ग से हट जाती– पर हट आसानी से न जाती। कन्या स्वाभाविक उत्तराधिकारी थी।... अक्सर तब मेरा अंत संघर्ष में होता था, मां–बेटी के संघर्ष में।' तो, देखा जा सकता है मातृसत्ता में सभ्यता कैसे केवल सेक्स संबंधों तक सिमटी रही थी, जिस का समर्थन कुछ दलित लेखक विशेषतः लेखिकाएं करती पाई जाती हैं। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने लिखा है– 'इतिहास में मातृसत्ता इतनी दूर जा चुकी है कि उसे पकड़ पाना अब मुश्किल है। फिर भी यदि मनुष्य को मातृसत्ता देखने की बहुत चाहत है तो वह कुत्तों और बिल्लियों में इसे देखता रह सकता है।' तो, अबाध सेक्स संबंधों की वकालत करने वाले ही पितृसत्ता को कोसते पाए जाते हैं। लेकिन वे यह कभी नहीं बताते कि इनकी पैदाइश का भरण–पोषण कौन करेगा? असल में, पितृसत्ता के विरोध का नाला सीधा जारकर्म में गिरता है। इस में यह भी ध्यान रहे, पितृसत्ता का विरोध

स्त्री अधिकारों के नाम पर किया जाता है– यानी स्त्री जारकर्म की छूट चाहती है। इस बात पर तो जारों की बांछे खिल जाती हैं।

ध्यान रहे, मातृसत्ता में स्त्री ताकतवर है, यह शिकार और कृषि आधारित श्रम कर रही है। वह अपनी ताकत के बल पर पुरुषों का चयन कर रही है। इधर, पितृसत्ता ने उसे जिम्मेवार बनाया है। अब स्त्री उस तरह से ताकतवर नहीं रह गई है। अब वह पुरुष को अपने जाल में फंसा घर उससे सेक्स करने पर आमादा है। यही जारकर्म है। स्त्री सेक्स तो मनचाहे पुरुषों से करना चाहती है, जो जार होता और भरण–पोषण पति से चाहती है। ऐसे कैसे चलने दिया जाएगा? मातृसत्ता के नाम पर स्त्री जारों की होना चाहती है। यही इसका पितृसत्ता का विरोध है। दरअसल, मातृसत्ता में पुरुष निरीह रहा है, इधर जारसत्ता में स्त्री का निरीह होने का ढोंग है। जार इसी ढोंग का ढिंढोरा पीटते दिखाई देते हैं। यूं, समझ जाइए, जो भी स्त्री के निरीह और अबला होने की बात कहता है, वह पक्का जार होता है। स्त्री इसी जार के पीछे छुपना चाहती है, लेकिन आजीवक चिंतन ने इसके समेत इसके जार का चेहरा सारी दुनिया को दिखा दिया है। असल में, होता क्या है, या तो बच्चा अपने पिता की संतान होगा, अगर पिता से पैदा नहीं हुआ है तब निश्चित जानिए वह जारकर्म की पैदाइश अर्थात 'अक्करमाशी' है। यानी, उसे स्त्री ने अपने जार से पैदा किया है। तब ऐसी स्त्री पितृसत्ता अर्थात अपने पति का विरोध ही करेगी। पति का यह विरोध वह अपने जार के पक्ष में ही करती है। तो, पितृसत्ता का विरोध सीधे जारकर्म के समर्थन से जुड़ा है। पितृसत्ता के विरोध की बाकी बातें अर्थहीन हैं।

एक बात और यहां बताई जा सकती है, आदिवासी समाजों में आज भी मातृसत्ता के ही लक्षण दिखाई देते हैं। इस का अर्थ है कि ऐसे समाज संबंधों के निम्नतम स्तर पर जी रहे हैं। यही इन के पिछड़े होने की निशानी है। कोई इस बात पर गर्व करता है तो समझ जाइए उस का अभी मानसिक विकास रुका हुआ है। असल में, मूल सवाल पैतृकता का है। कोई अगर किसी दूसरे के जारकर्म की पैदाइश को पाल कर खुश होता है, तो तब क्या कहा जा सकता है?

दलित लेखिकाओं में पितृसत्ता विरोध की परंपरा कहां से आई है? क्या सचमुच इन के पति और पिता इन्हें किसी भी रूप में प्रताड़ित करते रहे हैं? देखा गया है, अधिकांश लेखक बनी दलित स्त्रियां 'मनुस्मृति' का नाम ले कर पितृसत्ता का विरोध करती हैं। उधर बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर पूछते रह जाते हैं, 'मनु ने पितृ– सावर्ण्य को मातृ सावर्ण्य में क्यों परिवर्तित किया?' यह पितृ सावर्ण्य पितृसत्ता ही है। है ना जबरदस्त विरोधाभास! मनु इस देश पर मातृसत्ता लादना चाह रहे हैं और मातृसत्ता को चाहने वाली दलित स्त्रियां मनु को कोस रही हैं। इस विरोधाभास को कैसे समझा जाए? दरअसल, इन कथित दलित स्त्रियों के पितृसत्ता के विरोध के पीछे आजीवक चिंतन की वह मूल मांग है, जिस में जारिणी को तलाक की कही गई है। इसी का विस्तार है जार की संतान जार पाले,

अक्करमाशी को जार की संपत्ति दी जाए। इतना ही नहीं हमारा तो यहां तक कहना है कि जारिणी का उस के जार के साथ विवाह कर दिया जाए। हमारी इन्हीं मांगों से लेखिका बनी दलित स्त्रियां भयभीत हो गई हैं, पता नहीं क्यों?

दरअसल, इस बात को समझने के लिए हमें बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर द्वारा लिखी 'हिंदू धर्म की पहेलियां' नामक किताब का १६ वां अध्याय, जो 'पितृत्व से मातृत्व की ओर – ब्राह्मण इससे क्या लाभ प्राप्त करना चाहते थे?', देखना होगा, जिस में विवाहों के जो आठ प्रकार गिनाए गए हैं, उन से दलितों अर्थात आजीवकों का किसी भी तरह का कोई संबंध नहीं है। इस में यह भी ध्यान रहे, बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर 'पुनर्विवाह' में गए हैं, जो आजीवक परंपरा में ही संभव है। आजीवक परंपरा में विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिस में जारकर्म पर तलाक की व्यवस्था रही है। दुख की बात यह है कि डॉ. अंबेडकर ब्राह्मणी विवाह के प्रकार तो गिना रहे हैं, लेकिन अपनी परंपरा की विवाह व्यवस्था पर चुप्पी साध गए हैं। इन विवाहों के बाद उन्होंने 'तेरह प्रकार के पुत्र' गिनाए हैं जो निम्नलिखित हैं– '1. औरस, 2. क्षेत्रज, 3. पुत्रिका पुत्र, 4. कानीन, 5. गुह्यज, 6. पुनर्भव, 7. सहोदज, 8. दत्तक, 9. कृत्रिम, 10. क्रीत, 11. अपविध, 12. स्वयंदत्त, 13. निषाद।'

ऊपर गिनाई इन संतानों में आजीवक केवल 'औरस पुत्र' और 'दत्तक पुत्र' को ही मान्यता देते हैं। ध्यान रहे, यह किसी ब्राह्मणी परंपरा के एकाधिकार का मामला नहीं। यह आजीवकों में हजारों सालों से चली आ रही परंपरा है, कि पति–पत्नी की औरस संतान को ही उत्तराधिकार में संपत्ति मिलेगी। ऐसे ही अगर किसी दंपत्ति के संतान नहीं हो पाई है, तो वह नियमानुसार संतान गोद ले सकता है। डॉ. अंबेडकर लिखते हैं– 'पुत्रत्व विधान में अत्यंत दोष थे, क्योंकि शूद्रों के पुत्र ब्राह्मण बन सकते थे। उदाहरणार्थ, गुह्यज, सहोदज, कानीन। कौन कहता है कि ये शूद्र से अथवा ब्राह्मण से क्षत्रिय या वैश्य से उत्पन्न हुए हैं? ये संदेह अनुलोम प्रथा से संभव थे, जिसमें यह कानूनी मान्यता थी जो पितृवर्ण प्रथा से संबद्ध थी, जिसके अनुसार यह गुंजाइश थी कि निम्न वर्ण के व्यक्ति उच्च वर्ण में आ जाएं।' पता नहीं डॉ. अंबेडकर कैसे मान रहे हैं कि गुह्यज, सहोदज और कानीन जैसे जार संबंधों से पैदा होने वाली संतानें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य मान ली जाती हैं? अगर ऐसा होता तो तब लड़ाई ही किस बात की होती? असल में जारकर्म से उत्पन्न संतान को स्त्री को पालना पड़ता है और उसे उस की जारिणी मां की जाति का माना ही जाता है। इधर, आजीवक ही तो बता रहे हैं कि अक्करमाशी की जाति उसके पैदा करने वाले जार बाप की ही होगी। इसी बात पर ब्राह्मण और कुछ दलित लेखिकाएं हम से लड़ रही हैं। ना जाने डॉ. अंबेडकर कैसे देख नहीं पाए कि गुह्यज, सहोदज और कानीन संबंधों से पैदा संतान की मार कमजोर वर्ग पर ही पड़ती है। जिस केस में उच्च वर्णीय स्त्री ऐसे संबंधों में संलग्न पाई जाती है, उस की उसके गर्भ और गर्भ के पिता सहित हत्या कर दी जाती है।

ऐसे ही बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने लिखा है– 'कोई शूद्र कभी ब्राह्मण,

क्षत्रिय अथवा वैश्य नहीं बन सकता था किंतु किसी शूद्र स्त्री की संतान वैश्य बन सकती थी यदि वैश्य का उससे विवाह हो जाता। इसी प्रकार वह संतान क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकती थी यदि उसकी शादी क्षत्रिय या ब्राह्मण से संपन्न हो जाती।' असल में यही वह जगह है जहां दलित स्त्रियां फंसी हुई हैं। बताया जा सकता है, दलित स्त्री के साथ तो कभी छुआछूत बरती ही नहीं गई। बलात्कार और जारकर्म द्वारा इसे गर्भा किया गया है। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने तो बताया ही हैं– 'दलित पुरुषों के साथ अस्पृश्यता बरती जाती है लेकिन दलित नारियों के साथ जारकर्म और बलात्कार के अपराध किए जाते हैं। दलित नारियों से कोई द्विज पुरुष छुआछूत नहीं बरतता बल्कि जारकर्म और बलात्कार के द्वारा उनका मान भंग करता है। जारकर्म के द्वारा दलित नारी की ताकत खत्म की जाती है। एक जार औरत किस बात के लिए कुर्बान होगी?' तो, ऐसी औरतें पितृसत्ता के विरोध में मंचों पर इकट्ठी होती हैं, और हमारी युवा होती लड़कियों को गुमराह करती हैं। यह भी सच है कि स्त्रियां हमारी हैं, इधर पढ़–लिखकर कुछ दलित स्त्रियां चाहती हैं कि वह और इस की संतान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बन जाए। एक दलित लेखिका तो ठकुरानी बन ही गई है और अपने बच्चों का परिचय भी ठाकुर कह कर करवाती है। दरअसल, पितृसत्ता विरोधी दलित स्त्री अपने गर्भ से अपने पति विरोधी संतान पैदा करती रही है। तो, पितृसत्ता विरोध के नाम पर लेखिका बन गई दलित स्त्री की कुछ ऐसी ही चाहना है। उधर, इसके विपरीत अगर कोई द्विज स्त्री प्रेम विवाह के नाम पर दलित पुरुष से विवाह कर लेती है तो उस की संतान भी पिता विरोधी ही हो जाती है। अब एक 'चमार भंगी' से विवाह कर बैठी ब्राह्मणी की संतान तो यह सोच कर ही विक्षिप्त हो सकती है। ऐसे में वह पिता विरोधी ही होनी है। द्विजों में जितने प्रकार के पुत्र डॉ. अंबेडकर ने खोजे हैं उन में कुछ यहां ज्यों के त्यों बताए जा रहे हैं। आगे बढ़ने से पहले, यहां बताया जा सकता है कि कोई कैसे अपनी संतान पैदा करता है, उस से आजीवकों को कुछ भी लेना देना नहीं है। लेकिन, हमारी कुछ दलित लेखिकाएं ब्राह्मण के सीखाए में हैं। ऐसे में उन की जिज्ञासाओं के समाधान जरूरी हो जाते हैं।

आजीवक चिंतन की केंद्रीय मांग है 'जारकर्म पर तलाक'। जारकर्म से किस तरह से जारज बच्चे पैदा होते हैं वह यहां बताया जा सकता है। ये जारज संतान पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज, कानीन, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव और पारासव या निषाद पुत्र हैं। आजीवक चिंतन दलितों में ऐसी जारज संतानों पर रोक लगाता है। इसी बात से कुछ दलित लेखिकाओं ने शोर मचा रखा है। इस में ये पितृसत्ता का रोना लेकर बैठ गई हैं। यह जारज संतानें कैसे पैदा होती हैं, इसे बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर की लिखित से ही जाना जा सकता है, उन्होंने लिखा है– 'यदि कन्या अपने पिता के घर अवैध संबंधों के कारण गर्भवती हो जाती और किसी पुत्र को जन्म देती और यदि फिर उसका विवाह हो जाए तो विवाह पूर्व जन्मे पुत्र पर उसके पति का अधिकार हो जाता है जो 'कानीन' कहलाता था।' यहां बताया

जा सकता है, कर्ण ऐसे ही कानीन पुत्र था। लेकिन, उसे कुंती के पति ने तो स्वीकार नहीं किया। यह बात डॉ. अंबेडकर को ध्यान रखनी चाहिए थी। ऐसा भी लगता है कि यह कानीन ही घिस कर कर्ण बन गया।

ऐसे ही, 'गुह्यज' वे पुत्र होते थे, जब किसी स्त्री के अपने पति से संबंध तो हों परंतु यह समझना कठिन हो कि पुत्र उसी का है अर्थात जहां यह संदेह हो कि अनाचार का परिणाम है। जब इस बात का साक्ष्य न हो तो अनुमान के आधार पर वह पुत्र उस स्त्री के पति का होता है। वह इसी कारण 'गुह्यज' कहलाता है कि उसका पिता संदिग्ध है।' बताया जाए, यह 'गुह्यज' ही आजीवक चिंतन में 'अक्करमाशी' है। पता चलता है कि ऐसे गुह्यज संबंधों की वजह से ही आए दिन हत्या, आत्महत्या होना आम बात है। बहुत से तो इस वजह से अवसाद और पागलपन के शिकार हो जाते हैं। कभी–कभी पति ऐसे संबंध के कारण घर छोड़कर जंगल चला जाता है और ज्ञान देने के नाम पर पूरी दुनिया को अंधेरे में रखता है। 'सहोदज' में पुत्र होते थे (हैं) जब कोई कन्या अपने विवाह के समय गर्भवती होती थी और यह निश्चय नहीं होता था कि पुत्र उसके पति का है जिसके उस कन्या के साथ पहले से ही शारीरिक संबंध होते थे अथवा वह किसी अन्य व्यक्ति का बीज है। परंतु यह निश्चिंत था 'सहोदज' उस गर्भवती स्त्री से उस व्यक्ति का उत्पन्न पुत्र माना जाता था जिसके साथ उस कन्या का विवाह होता था।' ध्यान रहे, ऐसे 'सहोदज' अक्सर कूड़े की ढेर पर पाए जाते हैं, जिन्हें आवारा कुत्ते चीर–फाड़ कर खा जाते हैं।

'पुनर्भव उस स्त्री का पुत्र है जिसे उसके पति ने त्याग दिया हो और वह अन्य के साथ सहवास के पश्चात पुनः अपने घर आ गई हो। इससे ऐसी स्त्री के पुत्र का भी बोध होता है जो एक नपुंसक, अस्पृश्य अथवा पागल या मृत पति के बाद दूसरा पति चुन लेती है।' किसी स्त्री को उस का पति क्यों त्यागता है इस बात को बच्चा–बच्चा जानता है। वह जारिणी होती है। फिर नपुंसक और पागल को तलाक देने से किस ने रोका है? जहां तक मृत पति की बात है तो पुनर्विवाह इसका समाधान है, जो तलाक के मामले में भी लागू होता है। यहां डॉ. धर्मवीर का कथन ध्यान देने लायक है, वे बताते हैं– 'सच बात यह है कि संस्कृत भाषा में तलाक के अर्थ का कोई शब्द नहीं है। यदि संस्कृत भाषा में तलाक के लिए शब्द होता तो बुद्ध को घर छोड़कर भागना न पड़ता।' फिर, यहां डॉ. अंबेडकर ने बेवजह अस्पृश्य का नाम लिया है, क्या इन्हें ध्यान नहीं रहा कि इन के साथ भी ये अस्पृश्यता का बर्ताव किया गया था? 'पारासव' से वे पुत्र होते थे जो किसी ब्राह्मण द्वारा शूद्र नारी से उत्पन्न किए जाते थे।' इसमें निषाद भी है। यह निश्चित है कि ऐसी जारज औलाद भी ब्राह्मण के जारकर्म द्वारा पैदा हो रही है। अगर ये विवाह द्वारा पैदा होते तो इन्हें ब्राह्मण ही माना जाना चाहिए था।

अब हम बात करते हैं 'पुत्री का पुत्र' और 'क्षेत्रज' की।

बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने सूचित किया है– 'पुत्रिका पुत्र से आशय है,

पुत्री से उत्पन्न पुत्र। इसका महत्व यह है कि इस प्रथा के अनुसार कोई पिता, जिसका अपना पुत्र नहीं होता था, वह अपनी पुत्री से किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराता था। यदि इस शारीरिक संबंध के कारण उस कन्या को पुत्र प्राप्त हो जाता था तो वह बालक पुत्री का पुत्र कहा जाता है। किसी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त था कि अपनी पुत्री का विवाह कर देने के पश्चात भी पुत्र प्राप्ति हेतु उसे विवश कर सकता था कि उसकी पुत्री उसके द्वारा नियत पुरुष के साथ संभोग करे। इसी कारण यह चेतावनी दी जाती थी कि उस कन्या के साथ विवाह न किया जाए, जिसके भ्राता (भाई) न हों।' इसे ब्राह्मणों की विशेष व्यवस्था के रूप में देखा जाना चाहिए। कुप्रभाव के रूप इसे आज भी चलन में देखा जा सकता है कि बिना भाई की बहनों से आज भी विवाह में दिक्कत आती है।

'क्षेत्रज के शब्दार्थ और भावार्थ समान हैं। इसका अर्थ है– क्षेत्र से उत्पन्न पुत्र– क्षेत्र का अर्थ है पत्नी। हिंदू (ब्राह्मण) आदर्शों के अनुरूप स्त्री खेत के समान है और पति उस खेत का स्वामी है। यदि पति की मृत्यु हो जाती थी अथवा वह जीवित होता था परंतु नपुंसक होता था अथवा उसे असाध्य रोग होता था तो उसका भ्राता अथवा अन्य सपिंड व्यक्ति उससे पुत्र उत्पन्न कर सकता था। इस प्रथा को 'नियोग' कहते थे। इस प्रकार उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता था।' जाहिर है कि यहां भी जारकर्म को प्रश्रय दिया गया है। पति की मृत्यु, नपुंसक और असाध्य रोगी की स्त्री को पुनर्विवाह में जाना चाहिए। भ्राता अथवा सपिण्ड व्यक्ति से पुत्र उत्पन्न करने अर्थात 'नियोग' से सामान्य हालात में भी जारकर्म को ही बढ़ावा मिलता है।

देखा जा सकता है क्षेत्रज, कानीन, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव, पारासव और पुत्रिका पुत्र जैसी जो संतान पैदा होती हैं, उसे दलित विमर्श में जारकर्म से पैदा हुई संतान ही माना गया है। इस जारकर्म से पैदा हुई संतान का पिता कौन है, यह आजीवक चिंतन की अगली मांग है। ऐसी संतान के जारज पिता का पता लगाने के लिए ही 'दलित चिंतन' में डी.एन.ए. टेस्ट की मांग की जा रही है। इस से जारों को सांप सूंघ गया है। लेकिन, दलित लेखिकाएं इस बात पर हाय तौबा मचा रही हैं, पता नहीं क्यों? ये डी.एन.ए. टेस्ट के विरोध में उतरी हुई हैं। इसे ये पितृसत्ता के अमानवीय चेहरे के रूप में प्रस्तुत करती हैं। अरे भई, डी.एन.ए. टेस्ट से यही तो पता चलना है कि बच्चे का वास्तविक पिता कौन है। इस बात के लिए इतनी हाय–हाय क्यों? असल में, जारकर्म के लिए स्त्री ही जिम्मेदार है। वह नहीं चाहती कि डी.एन.ए. टेस्ट हो। क्योंकि, इसके जारकर्म का खुलासा होता है।

द्विजों को ऐसी संतान के पैदा होने पर कोई आपत्ति नहीं होती। क्योंकि, इन्हें लेकर इन की कोई जिम्मेवारी नहीं बन रही। अपने ग्रंथों में इन्होंने ऐसी व्यवस्था की है कि ऐसी जारज संतानों को इसे पैदा करने वाली स्त्री और उस का पति ही पाले। यही वजह है कि मनु ने पितृ– सावर्ण्य को मातृ सावर्ण्य में परिवर्तित कर दिया, और यही डॉ. अंबेडकर जानना चाह रहे हैं। इसी में जमीन,

जमीन के स्वामी और बीज डालने वाले के संबंधों की व्याख्या भी हो जाती है।

असल में डॉ. अंबेडकर को स्पष्ट करना चाहिए था, कि अगर किसी का पति या पत्नी नपुंसक, पागल, असाध्य रोग से पीड़ित या जार है तो उसे अपने पति या पत्नी से तलाक ले लेना चाहिए। इस के बाद वे तेरह के स्थान पर औरस और दत्तक पुत्र की ही बात करते। वे यह भी जान जाते कि ब्राह्मण विवाह व्यवस्था शत–प्रतिशत जारकर्म को प्रश्रय देती है। लेकिन लगता है उन्हें तो ब्राह्मण व्यवस्था का भी अध्ययन करना था। अपने चिंतन के लिए वे बुद्ध की शरण में गए हैं, जहां मातृसत्ता है न पितृसत्ता। मठों–आश्रमों में कौन–सी सत्ता का बोलबाला रहता है, यह बताने की जरूरत नहीं है। वैसे बताया जाए, 'बुद्ध ने भिक्षुणियों के १३३ क्रियाकलापों पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगा दिया। उन्होंने रहन–सहन के मामले में हिंदू विधवाओं और बौद्ध भिक्षुणियों में कोई फर्क नहीं रहने दिया। सवाल है इतना प्रतिबंध लगाने के बावजूद क्या भिक्षुणियां मैथुन कर्म से विरत हो पाईं? बुद्ध के लिए दुख है कि उन के इतना प्रतिबंध लगाने के बावजूद भिक्षुणियां गर्भवती हुई थीं।' पूछा जाए, ऐसा गर्भधारण कौन सी सत्ता में होता है? पितृसत्ता में यह हरगिज संभव नहीं। प्रसंगवश, यहां बताया जा सकता है, अगर किसी का पति भिक्षुक, मुनि और संन्यासी हो जाता है, तो क्या स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं मिलना चाहिए?

दरअसल, पितृसत्ता का विरोध मनुस्मृति के विरोध के नाम पर किया जाता है। वैसे पूछा जाए, जिस किताब को बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर फूंक चुके हैं, तब उसके विरोध का क्या मतलब रह जाता है? दूसरे, अगर फूंक देने के बाद भी मनुस्मृति जिंदा है और ये उससे संचालित हो रहे हैं, तब इनके विरोध का क्या अर्थ है? यानी, इन्होंने इस ब्राह्मणी किताब को अपने दिमाग में जगह दे रखी है। इधर, आजीवक चिंतन में ऐसी किताबों को उन्हीं लोगों तक सीमित कर दिया है जो इनके रचयिता हैं। दरअसल, पितृसत्ता का विरोध करने वाली कथित दलित लेखिकाएं पति का विरोध करते हुए मातृसत्ता के सपने देखती हैं, जिसमें स्त्री को सेक्स की अपार स्वतंत्रता रही है। एक तरह से जो निरा पशु जीवन है। विमल थोराट ने तो लिखा ही है, 'जब तक स्त्री की अपत्य निर्मिति में महान भूमिका को पृथ्वी की निर्मित सामर्थ्य सदृश देखा जाता रहा तब तक मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था कायम थी। अपत्य निर्मित में पुरुष के महत्व का अहसास और कृषि में 'हल' की खोज से पुरुष सत्ता का आगमन हुआ।' बताइए, मातृसत्ता में पसरे पड़े जारकर्म का कैसा महिमामंडन किया जा रहा है! क्या इन्हें पता नहीं कि मातृसत्ता में मनुष्य जंगलीपन से आगे नहीं बढ़ पाया था। ये जिसे अपत्य कह रही हैं, वहां पति की उपस्थिति नहीं है। फिर, ये पति के निर्मिति की बात कह रही हैं, क्या इन्हें बताना पड़ेगा कि पति की निर्मिति के साथ ही पत्नी की निर्मिति जुड़ी है। पति–पत्नी के रिश्ते के अस्तित्व में आने से पहले स्त्री–पुरुष के केवल जैविक संबंध थे। जिस की वजह से मानव सभ्यता रुकी पड़ी थी। पति–पत्नी के संबंध निर्मित होते ही घर, परिवार, कबीला, गांव, देश, राज्य, साम्राज्य का विकास होता

चला गया। आज जो दुनिया दिखाई दे रही है, वह पति–पत्नी के संबंधों की निर्मिति की वजह से ही है। इन्हीं संबंधों के सुचारू संचालन के लिए पर्सनल कानून अस्तित्व में आते हैं। शेष कानून इसी का हिस्सा होते हैं। फिर, हर चिंतन परंपरा के अपने पर्सनल कानून होते हैं। इधर आजीवक यानी दलित चिंतन परंपरा में जारकर्म पर तलाक की व्यवस्था रही है। इससे भली स्त्री और भले पुरुष को डरना नहीं चाहिए। बताना यह भी है, स्त्री के जीवन से पति के निकलते ही जार की एंट्री हो जाती है। जार नंग और निठल्ला होता है, इसकी उदरपूर्ति कैसे हो? तब जारिणी इसकी और अपनी उदरपूर्ति के लिए पति को बैल की तरह रखना चाहती है और सेक्स के लिए अनगिनत जारों का साथ चाहती है। इतना ही नहीं, तलाक के नाम पर वह अपने और अपने जार का भरण–पोषण चाहती है। मोरल स्त्री की ऐसी कोई मांग नहीं होती। वह जार के कुल्हे पर लात मार कर उस से अलग हट जाती है और खुद कमाती खाती है। यह खुद कमाना मोरलिटी की अनिवार्य शर्त है। इसी से स्त्री की स्वतंत्रता का रास्ता निकालना है।

फिर, पति की चाहना है कि संतान विवाह से 'औरस' पैदा हो, लेकिन जारिणी तो विवाह से बाहर जार से संतान उत्पन्न करके पति से पलवाना चाहती है। इसीलिए वह पितृसत्ता का विरोध करती है। इधर आजीवक चिंतन में बताया जा रहा है, स्त्री तय कर लें कि उसे कितने पुरुषों के साथ सोना है? वह इसके लिए लिखित संहिता के साथ आए। आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर ने तो बता दिया है– 'इस स्त्री चिंतन के बारे में दो बातें हैं। पहली यह कि इस चिंतन ने विवाह संस्था को आज तक स्वीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह कि इसने विवाह के विकल्प में अपनी तरफ से विश्व में कानून का मसौदा कभी तैयार नहीं किया। कुछ स्त्रियां मौजूदा पर्सनल कानूनों को गलत बताती हैं कि वह पितृसत्तात्मक हैं पर वह अपना कानून ले कर तो आएं कि वे जीवन और घर–गृहस्थी में कैसे चलेंगी। बिना कानून की उनकी यह अराजकता की स्थिति है, जो दूसरी अधिकतर स्त्रियों के लिए बड़ी घातक है।' तो, पितृसत्ता विरोधी दलित स्त्रियां बताएं कि परिवार कैसे चलेगा? ये पूरी संहिता के साथ आएं, बाकी किसी तरह की किसी की भी बकवास नहीं सुनी जानी।

कुछ लोग पितृसत्ता को पुरुषसत्ता कह कर इसकी आलोचना करते हैं। ऐसे आलोचकों से पूछा जा सकता है, स्त्री का संबंध कितने पुरुषों से होता है? पुरुष के रूप में उसे पति ही मिलता है। कोई पति की आलोचना स्त्री–पुरुष के रूप में पति–पत्नी के संबंधों को परख कर सकता है। इस परखने में दूसरा कोई पुरुष नहीं होता। इस संबंध के बीच किसी दूसरे पुरुष का आना ही विवाद के मूल में है। यह दूसरा पुरुष जार ही होता है, जिसे जारिणी का समर्थन मिला होता है। दलित चिंतन में तो बताया ही जा रहा है, अगर स्त्री को कोई दूसरा पुरुष पसंद है तो वह अपने पति को तलाक देकर दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें किसी भी अपने जार के साथ जैसे चाहे रहे। हां, उसे पति से किसी तरह का भरण–पोषण नहीं

मिलने जा रहा। वह जिस के साथ रहे उसी से भरण–पोषण भी ले। बताया जाए– 'पुरुष स्त्री का दुश्मन नहीं है। सभ्यता के पूरे विकास में वह स्त्री के साथ खड़ा मिलता है। उस समय पुरुष स्त्री का पिता या भाई होता है। कौन पिता अपनी बेटी को उस के ससुराल वालों से बेइज्जत होती देखना चाहेगा? भाई अपनी छोटी या बड़ी बहन को किसी के द्वारा क्यों मरने देगा? पति खुद अपनी पत्नी को दुनिया की सौ अपै–झपों से बचाता है। राह चलता पुरुष भी स्त्री के साथ हो रहे बलात्कार के खिलाफ अपनी जान जोखिम में डाल देता है।... इन सारे पुरुषों की बात बहुत गौर से सुनी जानी है जब यह स्त्री के पक्ष में बोलते हैं। इनके सिवा, और कौन पुरुष हैं जो स्त्री के पक्ष में बोलते हैं? वह जार हो सकते हैं। यही अंतर है कि यदि वे जार पुरुष हैं तो उनकी एक भी बात नहीं सुनी जानी है। जार लगभग चोर है, बल्कि कहना चाहिए कि वह डबल चोर है। चोर किसी के घर में एक बार चोरी करता है, दो बार चोरी करता है, पर जार पुरुष परपत्नी की कोख से अपनी औलाद पैदा करके उसके खाने का जीवन भर का इंतजाम कर देता है। यह भरण–पोषण और उत्तराधिकार के कानूनों में एकमुश्त चोरी है, डकैती है, सेंधमारी है। यह बच्चों का दुश्मन है कि उन्हें चोरी से और अवैध पैदा करता है।'

जाना जाए, जारिणी चाहती क्या है? वह अपने पति से तो संपत्ति चाहती है और सेक्स के लिए उसने ना मालूम कितने जार पाले होते हैं। वह उन जारों के लिए भी अपने पति से भरण–पोषण चाहती है। इसे तलाक के मुकदमों में बखूबी देखा जा सकता है। यानी, भरण–पोषण पति से और सेक्स किसी से। लेकिन, इधर आजीवक चिंतन दलितों को अपनी परंपरा में तलाक का अधिकार देता आ रहा है। इसी से तथाकथित दलित लेखिकाओं की सांसें उखड़ी हुई हैं। इन्हें पता लग गया है कि अब इनका जारकर्म का पक्ष चलने वाला नहीं। तब ये अपनी अंतिम उखड़ती जाती सांस के साथ बुद्ध की शरण में जाना चाह रही हैं। लेकिन, पता लगता है कि बुद्ध ने भी यशोधरा को अपनी शरण में नहीं लिया था। और ना ही यशोधरा ने माना कि वह बुद्ध की शरण में है, बल्कि मरते समय भी 'उसने तथागत से कहा, मैं अपनी शरण आप हूं।' यह भी बताया जाए, यह घटनाक्रम बुद्ध और यशोधरा के अंतिम समय का है, जब व्यक्ति सब कुछ भूल कर सामने वाले को माफ कर देता है। लेकिन यहां तो यशोधरा ने स्पष्ट शब्दों में बुद्ध की शरण में आने से इंकार कर दिया है।

पिता के रूप में पति क्या चाहता है? वह चाहता है कि उस की पत्नी से जो संतान उत्पन्न हो वह उसी की हो, इसी को पितृसत्ता कहते हैं। जब कोई स्त्री अपने पति से संतान पैदा करने की बजाय किसी गैर से संतान पैदा करती है, उसे जारज संतान कहते हैं और यही 'जारसत्ता' है। जो स्त्री अपने पति को छोड़ कर किसी अन्य मर्द से संबंध बनाती है, वह पल भर में अपने पति को अपने जार से मरवा सकती है। पूछा जाए, पति की इस चाहना में गलत क्या है कि संतान उसके वीर्य से पैदा हो? जब पुरुष संतान अपनी चाहता है तब वह अपनी

संतान की रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देता है। पूछा जाए, 'बाप ने अपने बच्चे से क्या छीना है? मां की तरह उस ने भी अपने बच्चे से कुछ नहीं छीना। तब स्त्री बच्चे से उस का बाप क्यों छीन रही है? यह बच्चे का मौलिक अधिकार है कि मां के नाम की तरह वह अपने बाप का नाम भी जाने। बाप अपने बच्चे को, अमीर या गरीब, कुछ देता ही है, उस से कुछ लेता या छीनता नहीं है। यदि मां उसे दूध और दुलार देती है तो बाप भी उस पर अपने अपनत्व का सर्वस्व लुटा देता है। वह बच्चे को अपना इतिहास देता है। मां बच्चे का सिर रोलती है तो बाप अपने बच्चे को सामने बराबर का हमशक्ल पा कर छाती से लगा लेता है। रोग–शैया पर पड़े हुए हुमायूं के चारों और तीन चक्कर, अल्लाह से उस के जीवन के बदले में अपनी मौत मांगते हुए पचास साल से कम उम्र के शहंशाह बाबर ने लगाए थे, हुमायूं की मां माहेम ने नहीं। बाबर ने दुआ में मांगा था– 'अल्लाह, अगर जान का बदला जान हो तो मुझ बाबर की जान ले कर हुमायूं की जान बख्श दे।' पौराणिक भारत में भी राम के वनगमन पर दशरथ ने अपने प्राण त्यागे थे, राम की मां कौशल्या ने नहीं। तो, जैसे बच्चे से उसकी मां नहीं छीनी जानी चाहिए वैसे ही बच्चे से उसका बाप भी नहीं छीना जाना चाहिए।'

ध्यान रहे पितृसत्ता के विरोध का अर्थ पति का विरोध ही होता है, क्योंकि जिस पति से स्त्री को संतान पैदा करनी होती है, उसकी जगह वह मातृसत्ता की सेक्स की अपार स्वतंत्रता के नाम पर जार से संतान पैदा करना चाहती है। इस बात की गवाही 'आपहुदरी' ने लिख कर दी है, जिस के पक्ष में चप्पल हाथ में लेकर नवआधुनिक दलित स्त्रियां पितृसत्ता के विरोध में नारे लगा रही हैं। ऐसी स्त्रियों से दलित स्त्रियों को सतर्क रहना चाहिए। पति के विरोध के नाम पर ये इन्हें जारकर्म में धकेलने में लगी हुई हैं। जार तो वैसे ही पितृसत्ता के विरोध का मर्सिया पढ़ता है। उसे अपनी जारकर्म की पैदाइश दूसरे से जो पालन करवानी होती है। इसलिए पुनः बताया जा रहा है कि पितृसत्ता के विरोध का अर्थ पति का विरोध ही होता है। पति के विरोध का मतलब होता है जार का समर्थन।

आखरी बात जो बतानी है, वह यह कि दुनिया में हर धर्म चिंतन की मातृसत्ता और पितृसत्ता अपनी परंपरा में विकसित होती है। जिसकी अपनी अलग विशेषताएं होती हैं। इस रूप में दलितों अर्थात आजीवकों की पितृसत्ता सबसे अलग है। इसमें ना तो पुत्रिकापुत्र होता और ऐसे ही क्षेत्रज, गुह्यज, सहोदज, पुनर्भव और पारासव पुत्र के होने का तो सवाल ही नहीं उठता। ऐसे ही, ना ही आजीवकों में विवाह के अनेक प्रकार भी नहीं होते। आजीवकों में विवाह एक सामाजिक समझौता होता है, जिसमें 'तलाक' अनुमत है। इससे आजीवकों में केवल और केवल 'औरस' संतान पैदा होती है, जो अपने पिता को ही पिता कहती है। यही पितृसत्ता का असली रूप है, इसी से मनुष्यता आगे बढ़ी है।

●

किन्नर विमर्श
समाज, संस्कृति और साहित्य

प्रो. शैलेन्द्र सिंह*

समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। जो समानता की चेतना पर आधारित होता है। व्यक्ति अपनी समस्त मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। अर्थात दैहिक, दैविक, भौतिक समस्त आवश्यकता ओंकी पूर्ति का एक साधन समाज है। इसलिए समाज को चलाने के लिए सामाजिक संस्थाएं कुछ नियमों को बनाती हैं, जिन्हें समाजिक नियम, मूल्यों के नाम से जाना जाता है, जो लोग इन नियमों का पालन करते हुए अपना विकास करते हैं, उन्हें सामाजिक प्राणी कहा जाता है और उसकी प्रगति को विकास कहा जाता है।

भारतीय समाज विविधताओं से युक्त ऐसा समाज है, जहाँ कई संस्कृतियों के मिल जाने से इसकी संरचना में विविधता आ गयी। जहाँ विभिन्न जाति–धर्म, समुदाय के लोग एक साथ रहते हैं, किन्तु सभी की सांस्कृतिक पहचान अलग–अलग होने के कारण उनके रहन–सहन, खानपान, तौर–तरीके वेशभूषा में अन्तर दिखलाई पड़ता है। यह समाज कई आयामों पर संगठित होकर अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। अनेकता में एकता रखनेवाला यह देश समाज असमानता के जाल में जकड़ा दिखाई पड़ता है, जिसमे ऊंच–नीच छुआ–छूत जैसे भेदभाव अनायास ही पैदा हो जाते हैं। भेदभाव की इसी असमानता में सबसे निचली पायदान पर समझे जानेवाला एक किन्नर समाज भी है जो प्रारम्भ से ही समाज का हिस्सा होकर भी हाशिये पर बना रहा। हाशिये पर जीने को विवश इस समाज को मुख्यधारा के समाज में हमेशा से अपमान, घृणा, और तिरस्कार ही मिला जो मानवीय आधार पर न्यायोचित नहीं है। किन्नर समाज को भी भारतीय संविधान समानता का अधिकार देता है। इसलिए समाज को चाहिए कि वह भारतीय संविधान की भावना का सम्मान करते हुए ही सही, किन्नर समाज को उसके अधिकारों से वंचित न करे, उसे समाज में अपनेपन की नजर से देखे और उनका समाज में समावेशी संयोजन करने का पूर्ण प्रयास करे।

* संपर्क – प्रो. शैलेन्द्र सिंह, विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे.एस. विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद, उ0प्र0, E-mail- shsilendra@gmail.com

प्रस्तावना – किन्नर सदियो से यातनायें सहता आया है। वे चाहे शारीरिक हो या मानसिक, समाजिक हो या आर्थिक, राजनीतिक हों या धार्मिक, सभी पायदानों पर किन्नर समाज दबाया और सताया गया है। उनकी सामाजिक प्रथकता के चलते परिवारों ने घुट–घुट कर बच्चे त्यागे हैं और बच्चों ने घुटती सांसो से अपने परिवार को अलविदा कहा है। उनका समाज अपने स्वार्थ के लिए उपयोग तो किया लेकिन उन्हें उनके अधिकारों से सदैव बंचित रखा है।

विमर्श के इस दौर में अब समाज बौद्धिक स्तर पर सक्रिय है। ऐसे में तमाम वंचित वर्ग जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी, मजदूर किसान आदि की तो बात की जाती है किन्तु समाज का एक ऐसा तबका है किन्नर, जिसके प्रति समाज की सोच आज एक परम्परागत और रूढ़िगत है। एक समाज की संरचना स्त्री–पुरुष के आपसी सम्भोग से होती है। समाज के दो मुख्य घटक हैं – स्त्री और पुरुष। जिससे हमारा समाज संचालित होता है। उस से इतर एक और घटक है, जिसे हिजड़ा या किन्नर कहा जाता है। जो नर है न नारी। यह दोनों का मिश्रित रुप है। ऐसे बच्चों को परिवारी जन या तो मार देते हैं या उन बच्चों को किन्नर समुदाय को सौंप देते हैं। इस भिन्न लिंग की उत्पत्ति को समाज में किन्नर, छक्का, हिजड़ा, खोजा, नम्बर नौ, उभय लिंगी, किंपुरुष, ट्रांस जेन्डर तृतीय प्रकृति, थर्ड जेंडर, अरावणी, जगप्पा, ख्वाजासिरा, खुसरा, जनाना, तीसरा लिंग, तिरूनन्गाई, कोचावाडू आदि नामों से जाना जाता है।

पुनीत विसारिया किन्नर को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "किन्नर या हिजड़ों से अभिप्राय उनलोगों से है, जिनके जननांग पूरी तरह विकसित न हो पाये हों अथवा पुरुष होकर भी स्त्रैण स्वभाव के लोग, जिन्हें पुरुषों की जगह स्त्रियों के बीच रहने में सहजता महसूस होती है।"

उर्मिला पोड़वाल के अनुसार– "ऐसे मानव किन्नर कहलाते हैं जो लैंगिक रूप से न नर होते हैं न मादा। आमतौर पर वह तो पुरुष और न ही महिला, ये एक तीसरे रुप में पहचाने जाते हैं।"

रवि कुमार गोंड के अनुसार – "किन्नर शब्द हिजड़े के रूप में प्रयुक्त हो चुका है। यह शब्द उनलोगों के लिए प्रयुक्त होता है... जिनका समाज में कोई स्थान नहीं, जो भोग विलास न कर सकें जो मातृत्व और पिता के सुख से वंचित हों और दोनों के अधिकाधिक दायित्व से बंचित हों, ऐसे लोगों को हिजड़ा शब्द का पर्याय माना जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखें तो किन्नर एक जन्मजात लिंगविहीन प्राकृतिक विकार को झेलता हुआ ऐसा मनुष्य है जो आधा स्त्री और आधा पुरुष दोनों के गुणों को मिलाकर बना है।

मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय का भी मानना है कि "हिजड़े पुरुष ही हैं और उन्हें महिला नहीं माना जा सकता। उच्च न्यायालय ने एक निचली अदालत के उस फैसले को बरकरार रखा है कि हिजड़े तकनीकी तौर पर पुरुष ही होते हैं।"

नन्दा जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ना इदर मेन नोर वो मेन (1990) में लिखती हैं "स्वयं किन्नर भी अपने आप को न तो आदमी और न ही औरत के रूप में स्वीकारते है बल्कि उनका मानना है एक महिला–पुरुष द्विधारी के बीच में कहीं न कहीं एक जीवन ईश्वर ने बनाया है, जहाँ स्त्रीत्व व पुरुषत्व की गहरी जडेद्दं सांस्कृतिक निर्माण के द्वारा प्रतिबिम्बित हैं। अधिकांश हिजड़ें शारीरिक रूप से नर होते हैं या अन्तःलिंगी (इण्टरसेक्स) किन्तु मादा (स्त्री) भी होते हैं।"

साहित्य का पुनरावलोकन – रामायण में किन्नरों का उल्लेख मिलता है कि राम को चित्रकूट मनाने के लिए भरत के साथ नर – नारियों के साथ किन्नर भी गये थे किन्तु राम वापस नहीं लौटे और उन्होंने भरत के साथ नर–नारियों का आदेशित किया, वे वापस लौट जाएं किन्तु असमंजसवश किन्नर वापस नहीं गये वो न तो नर थे न नारी। 14 बर्ष के बाद राम के लौटने पर राम ने पाया कि वे तो उनका वहीं इन्तजार कर रहे थे। तब राम ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि विवाह जैसे शुभ अवसरों पर उनका आगमन शुभ माना जायेगा।

महाभारत काल में भी किन्नरों का उल्लेख मिलता है 'शिखण्डी' जो युद्धकला में निपुण था, भीष्म पितामाह की मृत्यु का कारण बना। अर्जुन अज्ञात बास में 'वृहन्नला' का रूपधारण कर वेश बदलकर रहे।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इन किन्नरों को राजसी सेवा के रूप में बतलाया हैं। इनको जासूसी व सुरक्षाकर्मी का काम दिया जाता था।

हिन्दू–मुस्लिम शासकों द्वारा किन्नरों का उपयोग विशेष तौर से अन्तःपुर और हरम में रानियों की पहरेदारी के लिए किया जाता था ताकि रानियां पहरेदारों से अवैद्ध सम्बन्ध न बना लें। उस समय राजाओं द्वारा नवयुवकों के यौननांग काटकर उन्हें किन्नर बना दिया जाता था। अलाउद्दीन खिलजी के समय किन्नर प्रमुख पदों पर थे। जैसे – मलिक काफूर किन्नर।

गुजरात के सुल्तान मुजफ्फर ने अपने शासनकाल में मुमित उलमुल्क नामक एक किन्नर को कोतवाल के पद पर रखा था। तथ्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि 21वीं सदी में भी किन्नरों की दशाज्यों की त्यों बनी हुई है। ऐसा समाज शहरों में रहते हुए भी हाशिये की जिन्दगी जीता है और पैदा होने से लेकर मौत तक गुमनामी के जीवन में जीता है।

किन्नर संस्कृति – इस समाज की जीविका का साधन बधाई देकर उपकार में मिले पैसे होते हैं। रिश्तों की तलाश में वे अपना समाज तलासते हैं और ये आपस में ही बहिन, नानी, मौसी बन जाते हैं। इनके कुल सात घराने हैं। प्रत्येक घराने के प्रधान को नायक कहा जाता है। गुरू के चयन में इन नायकों की भूमिका सर्वाधिक होती है। किसी नये किन्नर को डेरे में शामिल होने से पहले उस गुरू से सादी की रस्म अदा करनी होती है। अगर उस गुरु की मृत्यु हो जाती है तो यह आम विधवा की तरह ही क्रियाकलाप करते हैं। 40 दिन तक विधवा वाला जीवन जीना होता है। किन्नरो में 'गिरिया' रखने का भी प्रचलन है। ये गिरिया

सम्पूर्ण पुरुष होते है। जो बाहरी या फिर इनके साथ रहने वाले मण्डली के ढोल किये या तबलची होते हैं। जिसे नौकरी के रूप में मण्डली में रखा जाता है। इनके साथ किन्नर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और पत्नी की तरह करवा चौथ का व्रत भी रखते हैं। इन किन्नरों में भी कई प्रकार के होते हैं, जिसमें बुचरा, नीलिमा, मनसा, हंसा, अबुजा, और छिबड़ा है। 'बुचरा' जन्मजात पैदा होने वाले किन्नर होते हैं। 'नीलिमा' वे किन्नर होते हैं जो किसी कारणवश स्वयं किन्नर बनने पर वाध्य होते हैं। 'मनसा' शारीरिक तौर की अपेक्षा मानसिक रूप से स्त्रीलिंग के समक्ष अधिक सहज पाते है। नपुंसकता या यौन न्यूनताओं के कारण बने किन्नर को 'हंसा' कहा जाता है। नकली किन्नरों को जो भेष बदलकर गरीबी के चलते ऐसा करते है उन्हे 'अबुआ' कहा जाता है, छिबड़ा किन्नर वे हैं जो लिंग छेद न कर जबरदस्ती बनाए जाते है।

किन्नर समाज कृष्ण व गुरु को अपनी विरादरी का मानते हैं। बहुचरा माता इनकी सबसे प्रसिद्ध देवी हैं। जिनका मुख्य स्थान गुजरात के अहमदाबाद में स्थित बेचराजी गांव है। बहुचरा माता मुर्गे की सवारी करती हैं। इसलिए इन्हें मुर्गा देवी भी कहते हैं। ये लोग ख्वाजा गरीब नवाज को भी मानते हैं। ये शिव की अर्द्ध नारीस्वर में पूजा करते हैं। अरावनइन के मुख्य आराध्य देव माने जातेहैं। जिससे प्रत्येक किन्नर एक दिन के लिए विवाह रचाते हैं, प्रत्येक वर्ष विल्लुपुर मजिले में स्थित कुआगम गाँव के अरावन मंदिर के प्रांगण में एकत्र होकर विवाह कर इस त्यौहार को धूमधाम से मनाते हैं। मरने वाले किन्नर की शवयात्रा भी रात में चुपचाप निकलती है।

किन्नर अपने समुदाय में किसी अन्य को शामिल करने से पहले चुनरी रस्मया निर्वाणम की विधि को निभाते हैं। अधिकतर किन्नर अस्पताल या अपने गुरु से निर्वाणम करते हैं। इनके समाज में गुरु का अपमान करनेवाले को सिक्का गर्म करके उस के माथे पर चिपका दिया जाता है और मण्डली के बाहर निकाल दिया जाता है। मण्डली में शामिल होने के बाद वे सांकेतिक भाषाओं का प्रयोग करते हैं। जैसे – पिता के लिए 'सुड्डा', माता के लिए 'सुड्डी', लड़की के लिए 'टुलनी', रखैल के लिए 'कोती' घुंघरु के लिए 'छमकने', चाय के लिए 'शपकी' सौ के नोट के लिए 'बड्मा', रिक्शा के लिए 'लुड़कनी' ढोल के लिए 'डामरी' आदि।

सन् 1871 से पहले किन्नरों को भारत में अधिकार प्राप्त थे, वे भी सभी की तरह सम्मान से जीवन व्यतीत करते थे परन्तु 1871 में अंग्रेजो ने किन्नरों को 'क्रिमिनल ट्राइब्स' यानी 'जरायम पेशा जनजाति' की श्रेणी में डाल दिया गया। स्वतन्त्रता के बाद जब नया संविधान बना तो इन्हें सन् 1951 में 'क्रिमिनल ट्राइब्स' में निकाल दिया गया। अप्रैल 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने कानून में एक तीसरे रूप में लिंग के रूप में हिजड़े और ट्रांसजेण्डर लोगों को मान्यता प्रदान की।

दिल्ली के उच्च न्यायालय द्वारा 6 अप्रैल 2014 को दिये गये आदेश में किन्नरों के लिए सरकारी फार्म में स्त्री–पुरुष के अलावा तृतीय लिंग व अन्य के नाम का कालम बनाया जाए।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, और 21 इन्हें बराबरी का दर्जा देते हैं। 1994 में किन्नरों को मतदान का अधिकार दिया गया। इसी का नतीजा था कि 2002 में 'मध्य प्रदेश'के सुहागपुर विधानसभा क्षेत्र में देश की पहली किन्नर विधायक शबनम मौसी को चुना गया।

किन्नर सम्बन्धित हिन्दी कविताएँ

साहित्य की प्राचीनतम विधाओं में काव्य का ही स्थान सर्वप्रमुख था। धीरे–धीरे भावों और विचारों के परस्पर योग से अन्य विधाएँ सामने आने लगीं। इसी विकास क्रम में प्रारम्भिक दौर से अबतक कविता भावात्मक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रही है। इसका प्रादुर्भाव गहरे अनुभूति की तीव्रता के साथ होता है। जहाँ प्राचीनकाल में कविता का क्षेत्र धीर उदात्त नायक तक सीमित था, वहीं आज के परिप्रेक्ष्य में यह हाशिये के उन तमाम वंचित लोगों को अपने में समाहित करता है, जिनका जिक्र न तो इतिहास ने किया और न ही परम्परागत कविताओं में हुआ है। इस अपरिप्रेक्ष्य में कविता आज उन वंचितों की ओर संवेदना पैदा कराती है, जिन्हें सदैव समाज ने बहिकृत और हाशिये पर रखा। स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों की समस्याओं के साथ किन्नर वर्ग की समस्या को भी आज इसके माध्यम से उठाया जा रहा है। इस दृष्टि से सपना मांगलिक की कविता 'हिजड़े की व्यथा' में किन्नर के जीवनपर्यन्त चलने वाली दुःख –घटनाओं का वर्णन मिलता है। कवियित्री ने एक किन्नर के माध्यम से इस कविता में उसके तिरस्कृत जीवन का खाका खींचा है। विकलांगों से भी उपेक्षित यह वर्ग अपने ही तन–मन से भी दुःखी रहता है। किन्नर को समाज में न तो कोई अपना कहने वाला होता है और न ही उसे अपने माँ–बाप और परिवार का प्यार मिलता है। इनसान का भी दर्जा न मिलने के दर्द को बयाँ कराते हुए, वह कहता है –

'मेरे हक, खुशियाँ सब सपने, माँग रहा हूँ कब से छीन लिया इंसां का दर्जा, दुआ माँगते मुझसे"

सभ्य कहे जानेवाले समाज ही नहीं, बल्कि व्यवस्था ने भी इन्हें अपने में स्थान नहीं दिया। ये किन्नर अपने अकेलेपन के जीवन को ढोते हुए उस व्यवस्था से पूछता है कि आखिर मैं ताली पीटने पर ही विवश क्यों हूँ –

'मित्र, बच्चे, घर बार न मेरा कोई जीवनसाथी
बस्ता, कॉपी न नौकरी बस, ताली साथ निभाती।'

इस प्रकार इस कविता में सपना मांगलिक ने किन्नर की अन्तर्वेदना को जिस प्रकार दिखाया है, वह यकीनन हमारे और हमारे समाज के लिए अत्यन्त शर्मनाक है।

गीति का 'वेदिका' ने अपनी कविता 'अधूरीदेह' में एक किन्नर को ईश्वर से शिकायत करते हुए बताया है कि एक किन्नर जिसे ईश्वर आधा–अधूरा का क्या दोष कि उसे जो बनाता है, तिरस्कृत किया जाता है? क्या इसमें ईश्वर की सबसे बड़ी गलती नहीं? कवयित्री इस बात को स्पष्ट करते हुए कहती है कि –

'अधूरी देह क्यों मुझको बनाया
बता ईश्वर! तुझे ये क्या सुहाया?'

यहाँ ईश्वर के प्रति किन्नर का आक्रोश दिखायी पड़ता है। वह ईश्वर से पूछना चाहता है कि अगर आपका अस्तित्व है तो आपके मन में ऐसी क्या विचित्र बात आयी जो आपने हम जैसे आधे–अधूरे किन्नरों को बनाया? शायद आपको पता नहीं कि इस समाज में हम जैसे लोगों की कोई आवश्यकता नहीं। हमें अछूत तथा घृणित मानकर सबसे अलग ही रखा जाता है।

गीतिका ने अपनी इस कविता में किन्नर के त्रासदी भरे जीवन तथा उसके हृदय की पीर को मानवीय संवेदना के साथ स्पष्ट किया है। उन्होंने किन्नर के सम्पूर्ण जीवन की व्यथा–कथा को इस कविता में अभिव्यक्त किया है और किन्नर को ईश्वर से शिकायत और अपनी व्यथा बताते हुए कई प्रश्नों को सबके सामने खड़ा किया है। इस सन्दर्भ में इन पंक्तियों को देखा जा सकता है–

'बहिष्कृत और तिरस्कृत त्रासदी हूँ
भरी जो पीर से, जीवन नदी हूँ,
मिलन सागर को ही कब रास आया?
वही एकाकीपन मुझमें समाया,
अधूरी देह क्यों मुझको बनाया?'

इन पंक्तियों में एक किन्नर कहता है, 'मैं इस सभ्य समाज में बहिष्कृत और तिरस्कृत देखा–समझा जाता हूँ। मेरा सम्पूर्ण जीवन एक पीड़ा की नदी है, जिसमें समय और समाज ने अपमान, घृणानुमा कचरे को डाला है। सभ्य समाज एक विशाल सागर है। उसने भी हमें अंगीकार नहीं किया। हम परिवार, रिश्ते, समाज से कटकर अकेले रहने को विवश हैं। सिर्फ इसलिए क्योंकि हम किन्नर हैं। हमारी देह अधूरी है।'

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी ने अपनी कविता 'यदि होता किन्नर नरेश मैं' में किन्नरों की आकांक्षाओं, इच्छाओं को व्यक्त किया है। वह इस कविता के माध्यम से किन्नर की इच्छा राजा (नरेश) बनने की बात कहते हैं, जिससे किन्नर इस समाज पर राज कर सके, जो उसे अपमानित करता है और उसे इनसान तक नहीं समझता। किन्नर कहता है–

'यदि होता किन्नर नरेश मैं
राजमहल में रहता,
सोने का सिंहासन होता
सिर पर मुकुट चमकता।'

यहाँ प्रत्येक किन्नर की इच्छा और कल्पनाओं का उल्लेख किया गया है। किन्नर चाहता है कि मैं भी राजमहल अर्थात इस सभ्य समाज में रह सकता। यहाँ सोने का सिंहासन और मुकुट की इच्छा से उनके रोजगार और गरीबी को परिभाषित किया गया है। प्रत्येक किन्नर अपने घर–परिवार व समाज में रह एक

अच्छा रोजगार पा सभ्य व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत करना चाहता है, परन्तु हमारा समाज उन्हें उपेक्षित कर उनके तमाम अधिकारों से उन्हें वंचित कर देता है। इसीलिए किन्नर अपने आपको किन्नर नरेश की कल्पना में देखता है।

नीलम शर्मा ने अपनी कविता 'किन्नर... माँ के नाम एक पाती, जो लिखी है रह जाती' में किन्नर जीवन की व्यथा–कथा को बड़ी संवेदना के साथ चित्रित किया है। इस कविता में एक किन्नर अपने आपको ईश्वर का अभिशाप बताकर, अपने माता–पिता से दूर होकर, एकाकीपन और अँधेरेमय जीवन की बात करता है जो अँधेरा उसके माँ–बाप की तरह उसे छोड़कर नहीं जाता। हर वक्त उसे सहारा देकर अंगीकार किये रहता है। इस कविता में किन्नर अपने घर–परिवार, माता–पिता से बिछुड़ने का दंश झेलते हुए अपनी माँ के नाम कुछ लिखता है–

'न नर हूँ, न नारी हूँ, न ही माँ किसी की और न बाप हूँ
हूँ ईश्वर की एक विकृत रचना या खुद के लिए ही श्राप हूँ
न आगमन हुआ मेरा अम्बर से, न उपजी मैं धरा से
कोई तो होगा पिता? मेरा भी जन्म हुआ होगा किसी माँ से'

यहाँ किन्नर की मानवीय संवेदना को यथार्थ पूर्ण चित्रित किया गया है। वह न नर है, न नारी अर्थात् वह स्त्री–पुरुष से इतर एक अलग योनि में उत्पन्न इनसान है, जिसे 'किन्नर' कहा जाता है। वह ईश्वर के सबसे बड़े वरदान प्रजनन क्रिया से वंचित है। वह किसी का माँ–बाप नहीं बन सकता। किन्नर अपने आपको ईश्वर की विकृत रचना तथा अभिशाप मानते हैं। क्या सचमुच किन्नर ईश्वर का अभिशाप हैं? वे कहते हैं– न मैं आसमान से आया हूँ, न जमीन से उत्पन्न हुआ। सबकी तरह मुझे भी उत्पन्न करने में एक माता–पिता का ही सहयोग है, पर क्यों अन्य बच्चों की तरह माता–पिता हमसे प्रेम नहीं करते? हमें अपने से दूर फेंक देते हैं, इस दलदल में, जहाँ हम नारकीय जीवन भोगने को विवश हैं। क्या हमारे प्रति किसी की ममता जाग्रत नहीं होती, जो हमें औरों की तरह समझ भेदभावन करते हुए अंगीकार करे? ऐसा कब होगा जब हम समाज, परिवार तथा माता–पिता के साथ रहकर एक खुशहाल जीवन जी सकें? इस प्रकार हम यह पाते हैं कि हिन्दी साहित्य में किन्नर से सम्बन्धित कई उपन्यासों, कहानियों और कविताओं के साथ–साथ लघुकथाओं आदि की रचना की जा रही है। साहित्य इन समुदाय की तमाम विसंगतियों के साथ–साथ उनके अन्तर्द्वन्द्वों पर भी प्रकाश डालता है। किन्नर समाज की हर एक समस्याओं को अलग–अलग लेखकों ने अपने–अपने अनुसार उठाया है। कहना न होगा कि साहित्य ने वास्तव में इन हाशिये से भी हाशिये पर गये समाज की ओर मुख्यधारा का ध्यान आकर्षिण कराने में अपनी अहम भूमिका निभाई है। अतः आज सामाजिक न्याय के लिए लड़ते हुए इस समुदाय पर सरकार का भी ध्यान गया है।

निष्कर्ष :

भारतीय समाज की संरचनात्मक व्यवस्था में स्त्री और पुरुष से इतर तृतीय लिंगी समुदाय जिसे 'हिजड़ा' या 'किन्नर' कहा जाता है, का असित्व भी उतना

ही पुराना है जितना कि सृष्टि का है। समय बीतने के साथ पितृसत्ता के वर्चस्‌ में पुरुषों ने अपने आपको सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हुए स्त्रियों को हाशिए पर रख दिया तथा जातिवाद के विष ने इस समाज को सबसे अधिक दूषित किया। इसी के साथ समाज में छुआछूत, ऊँच–नीच आदि का जन्म हुआ और दलितों को अस्पृश्य मान लिया गया। साथ ही आदिवासी जो यहाँ के मूल निवासी थे उन्हें जंगली और बर्बर कह मुख्य धारा से दूर कर दिया गया। इन सबके बीच स्त्री और पुरुष दोनों के गुणों से युक्त तृतीय लिंगी समुदाय को तो किसी ने स्वीकारा ही नहीं। इनमें केवल लैंगिक दोष होने के कारण समाज ने इन्हें हास्यास्पद बनाये रखने में ही अपनी गरिमा समझी है। इन तमाम विसंगतियों और बाध्यताओं से जूझते हुए इन किन्नरों ने अपना एक अलग संसार का निर्माण किया। ये तीसरी दुनिया के लोग अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए परम्पराओं से लगातार संघर्ष करते हुए अपनी पहचान की तलाश में आज भी जुटे हुए हैं।

वर्तमान समय में किन्नर जीवन की समस्याओं पर कुछ लेखकों का ध्यान गया है और वे अपने लेखन के द्वारा इन्हें सामाजिक न्याय और संवैधानिक दर्जा दिलाने का प्रयास कर रहे हैं। इन तिरस्कृत और अपमानित समुदाय के प्रति भी आज का लेखक समुदाय सजग व सतर्क दिखाई पड़ता है। हिन्दी साहित्य की बात करें तो ऑज किन्नर समाज पर कई उपन्यास, कहानी, कविता तथा लघुकथा आदि लिखी जा रही हैं। साहित्य आज किन्नर समुदाय की रहा है।

किन्नर समाज की हर एक समस्याओं को अलग–अलग लेखकों ने की तमाम विसंगतियों के साथ–साथ उनके अन्तर्द्वन्द्व पर भी प्रकाश डाला है। कहना न होगा कि साहित्य ने वास्तव में इन हाशिये से हाशिये पर गये समाज की ओर मुख्यधारा का ध्यान आकर्षित कराने में अपनी अहम भूमिका निभाई है। समकालीन समय में यह तबका अपने आपको समाज से चुनौती को स्वीकारते हुए वहाँ तक पहुँच पाया है जहाँ आमलोगों का पहुँचना बहुत ही मुश्किल है। आज इस समुदाय ने शिक्षा, रोजगार, राजनीति, सिनेमा आदि कई क्षेत्रों में अपनी जोरदार उपस्थिति दर्ज कराई है। इसी कड़ी में प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' किन्नरों की इसी अस्मिता की लड़ाई में अपनी भागीदारी का परिचय देते हुए उन्हें समाज में यथोचित सम्मान दिलाने का प्रयास किया है।

प्रदीप सौरभ का बहुचर्चित उपन्यास 'तीसरी ताली' अपने समय और समाज के अवांछित यथार्थ को पूरे धमाकेदार तरीके से प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस उपन्यास में किन्नर, समलैंगिकों, लौंडे और लौंडेबाजों के जीवन पर फोकस किया गया है, तथापि उपन्यास के केन्द्र में किन्नर समाज ही प्रमुख है। 'तीसरी ताली' उपन्यास में लेखक ने किन्नर समाज से जुड़ी तमाम गतिविधियों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। किन्नर समाज हमारे समाज का ही एक हिस्सा है जो उपेक्षित और हाशिये पर जीने को विवश है। यह एक ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व करता है जो न तो स्त्री है, न पुरुष और न ही गर्भधारण कर सकते हैं। इस समूह

की उपस्थिति को जानते–मानते तो सभी हैं लेकिन शायद ही कोई ऐसा हो जो इन्हें हिकारत की नजर से नहीं देखता हो। इनके सहज स्वाभाविक अधिकारों को भी प्रायः मान्यता नहीं मिल पाती, इन्हें आजीविका का संकट सामान्य व्यक्तियों की तुलना में न जाने कई गुना अधिक झेलना पड़ता है और आत्मसम्मान बचाने के लिए नित नयी समस्याओं से गुजरना पड़ता है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में किन्नरों की निजी दुनिया के तहखाने में झाँकते हुए उनके आन्तरिक जीवन एवं संस्कार के रेशे–रेशे को अक्षरबद्ध किया है। इसमें किन्नरों की प्रत्येक गतिविधि जैसे–उनका मुँहफट अन्दाज, उनके डेरे के सदस्यों का परिचय, वहाँ का अन्दरूनी वातावरण, मण्डली के नचनिए, बजनिए, खबरियों की खूबियाँ, किन्नरों को दी जानेवाली ट्रेनिंग, उनके प्रेम–प्रसंग, पूजा विधि, किन्नर बनाने की प्रक्रिया, उनकी शवयात्रा, कुवागम मेले की परम्पराएँ, उनके वार्षिक सम्मेलन आदि का दस्तावेजी अंकन है।

अन्तः हम कह सकते हैं कि किन्नर भी हमारे समाज का अभिन्न अंग हैं। उनकी भावनाओं को समझते हुए, उनकी समस्याओं पर सरकार व समाज को ध्यान देना चाहिए और उनके प्रति भेद भावपूर्ण रवैया न अपनाएं। जिससे वे असहज महसूस न करें और समाज में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके।

सन्दर्भ :

1. डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

2. निर्मला जैन, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय ई0 ए0 16 माइल टाउन।

3. महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा(2001), सामायिक बुक्स, नई दिल्ली।

4. प्रदीप सौरभ, तीसरी ताली (2011), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

5. डॉ. अनसूया त्यागी, मैं भी औरत हूँ, परमेश्वरी प्रकाशन।

6. चित्रा मुद्गल, पोस्ट वाक्स नं. 203 नाला सोपारा , समसामयिक प्रकाशन , नई दिल्ली।

7. सम्पा. डॉ. एम. फिरोज अहमद, वाड्मय, हिन्दी पत्रिका 1 जनवरी, मार्च 2017.

8. पार्वती कुमारी, किन्नर समाज, सन्दर्भ तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।

9. सपना मांगलिक, हिजड़े की व्यथा।

■

समाज चिंतन

काशी के गुरुकुल में चार दिन

बलराम*

काशी में एक जगह है अस्सी और अस्सी पर कथाकार काशीनाथ सिंह ने ठेठ हिंदी में उपन्यास लिखा है– 'काशी का अस्सी'। उन्हीं काशी ने समय–समय पर कुछ संस्मरण लिखे हैं, जिनके संग्रह छपे तो अपने अनूठेपन के कारण सराहे गये, खासकर इसलिए कि उनमें लोक जीवन से उठाई गई जिस खुरदुरी भाषा का उपयोग उन्होंने किया है, वह रचना को सीधे जन से जोड़ देती है, जिसे पढ़ते हुए लगता है कि जैसे लेखक ठेठ देसी मानुष की बोली–बानी में बात कर रहा है, जहां कोई सायास बुनावट नहीं है। बुनावट कई बार रचना को बनावटी और सजावटी रूप दे देती है, जिससे काशीनाथ सिंह ने खुद को सायास मुक्त किया और अपनी ऐसी भाषा विकसित की, जिसकी नकल संभव नहीं। चंद महत्वपूर्ण कवियों में शुमार धूमिल के संग–साथ ने काशी को एक समय अकहानीकारों की पांत में खड़ा कर दिया था। उनके संग्रह 'लोग बिस्तरों पर' की कहानियां उस दौर की याद दिलाती हैं, जब अराजक मानसिकता में कहानियां–कविताएं लिखी जाने लगी थीं, जिनके पाठक न्यून से न्यूनतर हो चले थे। एक लेखक के रूप में स्थापित–विस्थापित होने के कठिन दौर से तभी गुजरे थे काशीनाथ सिंह, जिसके बारे में उन्होंने 'कहानी की वर्णमाला और मैं' में विस्तार से लिखा है। इसमें वे कहते हैं : 'सन् १९७० के आसपास धीरे–धीरे समझने लगा कि क्यों चल (लिख) रहा हूं और चलकर कहां जाना है, आज भी 'कहानी' मेरे लिए खास चीज है, ऐसी चीज, जिसके लिए 'मूड' का इंतजार करना पड़ता है।'

साहित्य में त्रयी का चलन रहा है। लखनऊ की प्रसिद्ध त्रयी में जैसे अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा और यशपाल थे, वैसे ही कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन और शमशेर रहे तो कथाकारों में मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव। बाद में रवींद्र कालिया, काशीनाथ सिंह और ज्ञानरंजन की त्रयी मशहूर हुई, जिसमें दूधनाथ को जोडकर चतुष्कोण बना। फिर उसमें जुड़े थे विजयमोहन सिंह, आधे कथाकार और आधे आलोचक। उस पर काशी ने संस्मरण लिखा था–'किस्सा साढ़े चार यार', जिसकी खासी चर्चा रही।

* संपर्क – बलराम : 69, उपकार अपार्टमेन्ट, मयूर विहार, फेज–1 विस्तार, नई दिल्ली–110091, मो.–9810333933

ऐसे ही एक संस्मरण 'तीसरे भाई की खोज में प्रानपियारे' में काशी ने ज्ञानरंजन और कमला प्रसाद में एकत्व स्थापित हो जाने का चित्रण कुछ यों किया है : 'मैंने उन दो दिनों में देख लिया था कि कमला नाम का यह आदमी लग जाए तो बालू में से तेल निकाल ले। कमला ने ज्ञानरंजन से कहा होगा कि लोगों की इच्छाओं और भावनाओं को देखते हुए अपन लोगों को एक पत्रिका निकालनी चाहिए। 'पगध्वनि' के संपादन का अनुभव कमला को था और इलाहाबाद से प्रकाशित होते रहे 'आधार' के संपादन का ज्ञानरंजन को। ज्ञानरंजन उन दिनों वह नहीं था, जो आज है। इलाहाबादी आधुनिकता और 'परिमल' के संस्कारों में पला–बढ़ा ज्ञान अलमस्त और फक्कड़ और अल्हड़ था! कमला ने ज्ञान को घेर लिया होगा, 'तुम सिर्फ 'हां' भर दो। बाकी अपन देख लेंगे।' बाद में विचार–विमर्श के बाद राय बनी होगी कि पत्रिका का नाम 'पहल' हो। इस तरह नामालूम से शहर (सतना) ने एक आंदोलन की शुरुआत की।' इस किताब के वृत्त में आए शिवप्रसाद सिंह, कुमार संभव, बच्चन सिंह और महेश्वर आदि के चरित्र देखते–पढ़ते हम सहसा उस समय को जीने लगते हैं।

अपनी लेखन कला को विकसित करने के दौरान हुए अपने एक विलक्षण अनुभव के बारे में काशी ने लिखा है : 'जब किताबी ज्ञान का तेल डाले दीया के साथ घूम रहा था कि कोई मिले और तीली जला दे तो गांव जाते समय बस में भेंट हो गई बचपन के सहपाठी कैलाश से, जो किसी तरह हाई स्कूल पास कर गया था। आगे की पढ़ाई के लिए शहर आया, लेकिन पढ़ नहीं सका। उसकी गिनती शहर के गुंडों में होती थी और ऐसी कोई रंडी न थी, जो उसे जानती न रही हो। उसने ठेकेदारी में लाखों रुपये कमाये और इन्हीं सब में फूंक दिए थे। बड़े–बड़े गलमुच्छे, तना सीना, अकड़ी गर्दन और चेहरे पर आत्मविश्वास। वह अपनी जिंदगी की ढेर सारी घटनाएं सुनाता रहा। उसने मुझे विश्वास करा दिया कि किताबें और ज्ञान बेकार हैं, असल चीज है जिंदगी, उसके अनुभव, उलटफेर। इसी प्रकार जैसे–जैसे लोगों से मिलता गया, मुझे विश्वास होता गया कि हर आदमी के पास ऐसा कुछ है, जिससे सीखा जा सकता है। इसी दौरान मैंने यह भी जाना कि किसी भी आदमी की दिलचस्पी जानी या देखी हुई चीजों को जानने में नहीं होती। वह उसे जानना चाहता है, जो असाधारण हो, विशिष्ट हो, उसकी अपनी परिचित दुनिया से बाहर का हो। यथार्थ और विश्वसनीय होते हुए भी उसे लगे कि उसने वह जाना है, जिसे जानता नहीं था। उसने वह देखा, जो अब तक उसकी आंखों से ओझल था। यह हमारे समकालीन लेखकों की धारणाओं के खिलाफ बात थी, क्योंकि वे रोजमर्रा की जिंदगी की हर छोटी–बड़ी बात लिख रहे थे।' यही वह बिंदु है, जहां काशी ने कथाकार के रूप में अपनी अलग राह चुनते हुए लिखा : 'भला हो नामवर सिंह का, जिन्होंने उन्हीं दिनों चेखव, तुर्गनेव, हेमिंग्वे और तोल्स्तोय से परिचय कराया। मैंने एक नाम अपने से जोड़ा– प्रेमचंद, जिन्हें एक जमाने से खारिज कर दिया गया था और उस समय भी उनके खिलाफ

गर्म हवा चल रही थी। मैंने इन लेखकों को खोज–खोजकर पढ़ना शुरू किया और कहानी के बारे में उन लोगों से जानकारियां इकट्ठी करनी शुरू की, जो साहित्य प्रेमी या पाठक तो थे, लेकिन लेखक और आलोचक नहीं थे।' अपने बारे में ऐसी तमाम बातें बतानेवाले काशीनाथ सिंह मेरे लिए गुरु स्थानीय कथाकार रहे, कामतानाथ की तरह, लेकिन काशीनाथ सिंह का चेहरा मैं कभी ठीक से देख नहीं सका। मैंने क्या, शायद नामवर ने भी ठीक से नहीं देखा होगा भाई का चेहरा। खुद काशी ने अपना चेहरा ठीक से कहां देखा कभी। किसी ने उन्हें कोई आईना ही नहीं दिया, जिसमें वे अपना चेहरा देख पाते।

बहरहाल, यहां याद आ रहा है ऐसे आईने का एक वाकया, जिसमें नागार्जुन को आईना पकड़ाते हुए मोहन राकेश ने कहा था कि इसमें ठीक से अपना चेहरा देखो और बताओ कि कैसे दिखते हो? तब बाबा ने 'सारिका' में अपने बारे में खुलकर लिखा था, लेकिन उज्जैन में पचहत्तर पार करते नामवर को कालिदास ने जो आईना सौंपा था, दिल्ली लौटकर उसमें अपना चेहरा देखने की बजाय उन्होंने बनारस जाकर उसे काशी के हाथ में धर दिया। विवश काशी कई बरस तक आईने में अपना चेहरा देखते और पत्र–पत्रिकाओं में उसके बारे में लिखते रहे, जिनकी किताब छपी तो पहली प्रति के साथ दिल्ली आकर नामवर को उनका दिया वह आईना लौटाते हुए कहा, 'अब आप...'

सनाका खाए नामवर ने कुछ दिन बाद उस आईने में अपना चेहरा देखा और उस पर एक आत्मलेख लिखकर कथाकार अखिलेश के 'तद्भव' को दे दिया, लेकिन वह सिलसिला आगे बढ़ पाता कि गुरू लोग सक्रिय हो गए और नामवर को कालिदास से मिला वह आईना चुराकर किसी विदेशी स्कॉलर को बेच दिया। आईने की तलाश में नामवर इधर–उधर मारे–मारे फिरे, लेकिन तमाम कोशिशों के बावजूद वह उन्हें मिल नहीं सका और आत्मलेख लिखने का सिलसिला जहां का तहां ठहरा रह गया।

ऐसे काशी का चेहरा देखने की पहली कोशिश हमने तब की, जब नामवर जेएनयू में पढ़ाते और वहीं रहा करते थे। जामिया मिलिया इस्लामिया में हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों की अंतर्वस्तु पर दिए गए उनके व्याख्यान के हाउस जर्नल में छपे संक्षिप्त रूप को संपूर्ण रूप में लिख देने का हमारा अनुरोध नामवर ने स्वीकार कर लिया था। वही लेने उनके घर गया तो पता चला कि बनारस से काशी बाबू आए हैं।

ऊपरी मंजिल से काशी नीचे उतरते दिखे तो हम उनकी ओर लपके और मिलाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया, लेकिन हाथ जोड़ते हुए वे चलते चले गए। उस समय हम उनका चेहरा ठीक से नहीं देख सके, लेकिन उनकी पीठ पर

हमारी नजर टिकी रह गई, देर तक। कुछ दिन पहले बहुमत के मेरे 'हाथ' को परे धकेलकर एक सिंह साहेब के 'घोड़े' को काशीनाथ अध्यक्षीय विशेषाधिकार से जिता चुके थे। काशी के गुरुकुल में पहले दिन का यह मेरा पहला पाठ था, जिसका निहितार्थ चेहरे पर नहीं, काशी की पीठ पर लिखा दिख गया था।

कोई दस बरस गुजर गए काशीनाथ की उसी पीठ पर नजरें टिकाए कि वे पलटें तो ठीक से उनका चेहरा तो देख लूं। काशी के लोक जीवन को 'प्रेमचंद रचनावली' समर्पित करने उनके साथ लमही जाना चाहता था, पर शिवप्रसाद सिंह और सुखदेव सिंह के भी साथ होने या पेट में कुछ हो जाने से वे लमही तक मेरे साथ नहीं चल सके और मैं भी उनके दौलतखाने तक नहीं पहुंच सका, अन्यथा काशी पहुंचने पर काशीनाथ का वह चेहरा देखने का बड़ा मन था। सो, उनके गुरुकुल में दूसरा दिन बिना कुछ पाये यों ही निकल गया। सुना है कि काशी में लोगों को पाठ पढ़ाने का ऐसा चलन भी रहा है। बहरहाल, चलन, जो भी, जैसा भी रहा, चलता रहे, मुझे क्या, लेकिन बीस बरस बाद काठगोदाम रेलवे स्टेशन पर एक दिन मैंने काशीनाथ का वह चेहरा आखिर देख ही लिया।

सुमित्रानंदन पंत के कस्बे कौसानी से नैनीताल होते हुए दिल्ली की ट्रेन पकडने़ काठगोदाम रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुंचे थे कि धोती–कुर्ते की धज में चली जा रही एक मानव आकृति की पीठ पर नजर पड़ी। लगा कि शायद नामवर हैं। न जाने क्यों, तेज कदमों से आकृति की ओर बढ़ा, लेकिन यह क्या, आकृति के कदम तो और भी तेज हो लिये। जितनी तेजी मैं लाता, आकृति के कदम उससे भी तेज हो लेते।

सूरज डूबने को था। डर लगा कि कहीं कोई भूत न हो! वैसे भी इस इलाके में भूतों के किस्से आम हैं। विभूतिनारायण राय ने इधर के भूतों पर 'प्रेम की भूतकथा' लिखी ही है आखिर, लेकिन आकृति का पीछा करते लगभग भागते हुए प्लेटफार्म के आखिरी छोर पर पहुंचते हुए सहसा मुंह से निकल गया, 'नामवर जी, नमस्कार!'

आकृति तुरंत मेरी ओर पलटी और मुस्करायी, 'अरे बलराम, यहां कैसे?' सुनकर पानी–पानी हो गया। वे नामवर नहीं, काशीनाथ थे और इतने बरस बाद भी देखते ही पहचान गए, लेकिन कैसे?

'सॉरी, आपकी आकृति पीछे से एकदम नामवर जैसी दिखती है।'

'उसी से तो जीवन भर पीछा छुड़ाता रहा।'

'छोड़ेगी कैसे, राम के साथ लक्ष्मण हमेशा हैं कि नहीं!'

'वो तो हैं बलराम!' कहते काशीनाथ हमारे साथ उधर लौटे, जिधर मेरे घर के लोग इंतजार कर रहे थे। घर–परिवार से होती बातें लेखन की ओर मुड़ीं और 'कलम हुए हाथ' के दसियों संस्करण होने और घोड़े के पिछड़ जान पर जा अटकीं।

सन् 1980 में प्रकाशन संस्थान के अपने पहले ही सेट में हरीशचंद्र शर्मा ने काशी के कथा संग्रह 'आदमीनामा', केदार के कविता संग्रह 'जमीन पक रही है' और कामता के उपन्यास 'तुम्हारे नाम' के साथ मेरा कहानी संग्रह 'कलम हुए हाथ' भी छापा था। तब इन किताबों के साथ 'कलम हुए हाथ' की भी बड़ी चर्चा हुई थी। लेखन से उतर कर बात पत्रकारिता पर अटकी तो न जाने क्या सोचकर काशी अचानक कह गए, 'तुम्हारे लिए 'नवभारत' में अब क्या धरा है, वहां पड़े–पड़े क्यों सड़ रहे हो। करना है तो कहीं और कुछ करो।' कहते काशी के पान खाये चेहरे पर चमकी वह रहस्यमयी मुस्कान तब तक मेरा पीछा करती रही, जब तक 'नवभारत टाइम्स' छोड़ ही नहीं दिया। काशी के गुरुकुल में तीसरे दिन मेरे लिए यह तीसरा पाठ था, जिसने मेरे जीवन को नई दिशा दे दी। दशकों तक उनकी पीठ का पीछा करते–करते उस दिन अचानक मैंने ठीक से कथाकार काशीनाथ सिंह का चेहरा आखिर देख ही लिया।

काशी के गुरुकुल में चौथा पाठ लेकिन जरा देर से मिला, यही कोई दस बरस बाद, लखनऊ में। उससे पहले एक अवसर और भी आया था, जब वे अपना चेहरा दिखा सकते थे, लेकिन वादा करके भी मेरी किताब 'माफ करना यार' की काशी में होने वाली गोष्ठी के दिन शहर से बाहर होने की बात कहकर बच गए। अन्यमनस्क हो हमने भी टिकट कैंसिल करा दिया और गोष्ठी टल गयी, जो फिर कभी नहीं हो सकी। बहरहाल, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने जिस दिन काशीनाथ सिंह को 'भारत भारती सम्मान' प्रदान किया, उसी दिन उसी मंच पर खाकसार को 'साहित्य भूषण सम्मान' से समलंकृत कर दिया। समारोह संपन्न होने पर मंच से उतरते काशी की ओर लपक कर मैंने हाथ जोड़ते हुए उन्हें बधाई दी।

'अब तुम भी मेरी बधाई के हकदार हो गए।' आगे बढक़र बाहों में भरते हुए काशीनाथ ने कहा, 'और देखो, इन दिनों इसे पढ़ रहा हूं।'

यशपाल सभागार में ही अपने शांति निकेतनी झोले का मुंह खोलते हुए काशी ने उसमें पड़ा इकलौता पोथा दिखाया–'माफ करना यार'।

इसके बाद देखने, सुनने और कहने को कुछ बचा!

●

समाज चिंतन

राष्ट्रीय आंदोलन का दार्शनिक नींव

अरुण कुमार*

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले वैश्विक घटनाक्रमों का अमूल्य योगदान रहा है। जिसमें उदारवाद, उग्रवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, संप्रदायवाद जैसे दार्शनिक विचारधाराओं ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को आधारभूत सशक्त नीवं प्रदान किया। तत्कालीन समय में भारतीय उपमहाद्वीप एवं यूरोप में जो घटनाक्रम चल रहा था वो परस्पर जुड़े हुए थे, जिनका व्यापक चर्चा अपेक्षित है।

प्रस्तुत विचारधारा को विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक पद्धति में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कि प्राथमिक एवं द्वितीयक स्त्रोतों का प्रयोग किया गया है। साथसमाचार पत्रों, पत्रिकाएं एवं पुस्तकों का भी सहारा लिया गया है। प्रस्तुत विचारधारा को लिखने के लिए 'नेशनल अर्काइव ऑफ इण्डिया एवं मिनिस्ट्री ऑफ रिहेबिलिटेशन के दस्तावेजों का प्रयोग किया गया है। इसके अंतर्गत विशेषकर राष्ट्रीय आंदोलन में जो दार्शनिक पहलुओं ने योगदान दिया उसका उल्लेख यहां किया गया है।

विदित है कि उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में 'राष्ट्रीय राजनीतिक भावना' बहुत तीव्र गति से विकसित हो रही थी और भारत में एक संगठित राष्ट्रीय आंदोलन की आग भी सुलग रही थी। ऐसे में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना और आगे चलकर व इससे परे होकर देशवासियों ने एक दीर्घकालीन साहसपूर्ण संघर्ष चलाया, जिसके परिणाम स्वरूप 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र हुआ। व्यापकता के दृष्टिकोण से देखा जाए तो राष्ट्रीयता की भावना के उदय ने भारतीय इतिहास की धारा को ही मोड़ दिया।

इस राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में अग्रेंजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध असंतोष सर्वाधिक था, तभी तो प्रो० विपिनचंद्र ने कहा है कि 'साम्राज्यवाद विरोधी भावना देश के एकीकरण तथा समान दृष्टिकोण के उदय में एक कारक बनीं। वहीं सामाजिक, धार्मिक आंदोलनों का व्यापक प्रभाव एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति का ज्ञान ने राष्ट्रीय आंदोलन को तीव्रता प्रदान किया। यहां डॉ० एम०एस० जैन ने कहा है कि विश्व के उन देशों में राष्ट्रीयता की भावना जिन्हें विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है, अतीत में गौरव ढूँढ़कर ही जागृत हुई है, इसलिए भारत में भी इस गौरवपूर्ण समय की तलाश हुई।

*** संपर्क** – अरुण कुमार : शोधछात्र, इतिहास विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया, बिहार

देखा जाय तो विदेशों से संपर्क प्रजातीय विभेद की नीति भी राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने का कार्य किया, तभी प्रो० विपिनचंद्र ने कहा है कि प्रेस ही यह मुख्य माध्यम था जिसके जरिए राष्ट्रवादी विचारधारा वाले भारतीयों ने देशभक्ति के संदेश और आधुनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों को प्रसारित किया और अखिल भारतीय चेतना का सृजन किया। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में राजनीतिकसंस्थाओं का योगदान, लिटन और रिपन की प्रतिगामी नीतियां भी उत्तरदायी थी, तभी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि श्लार्ड लिटन के प्रतिक्रियावादी प्रशासन ने जनता को उसके उदासीनता के दृष्टिकोण से जगाया और जनजीवन को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी ।

महत्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध इतिहासकार रैमजे मैक्डोनल्ड ने लिखा है कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता के सिद्धांत को सिखाकर भारतीय नेताओं को प्रशिक्षित करने का कार्य किया। यहां विशेषकर 1885 से 1905 के बीच का समय भारतीय राष्ट्रवादिता के बीजारोपण का समय था और उस दौर के राष्ट्रवादियों ने उस बीज को अच्छी तरह गहराई में बोया, उन्होने अपनी राष्ट्रवादिता को सतही संवेगों और अस्थायी भावनाओं को जागृत करने के आग्रह या स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अमूर्त अधिकार या धुँधले अतीत को याद दिलाने की अपील पर आधारित नहीं किया वरन उसकी जगह पर उसे आधुनिक साम्राज्यवाद के पेचीदा ढ़ाचे की भावुकता से मुक्त और गहरे विश्लेषण तथा भारतीय जनता और ब्रिटिश शासन के हितों के माध्य अंतर्विरोध को जमीन में गाड़ा। परिणाम यह हुआ कि उन्होने एक ऐसा समानराजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसने भारत के विभिन्न वर्गों के लोगों को विभाजित करने की जगह एकबद्ध कर दिया, बाद में भारतीय जनता उरा कार्यक्रम से सम्बद्ध हुई और उन्होंने एक सशक्त सधर्ष शुरु किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन सामाजिक अंतर्विरोध से साम्राज्यवाद की हालत और शोषण की उसकी व्यवस्था से और उस शोषण की हालत के अन्तर्गत भारतीय समाज के अन्दर उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ ।

भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की देशभक्ति की प्रथम एवं सहज अभिव्यक्ति प्रांतीय भाषाओं के साहित्यों में मिलती है। दीनबंधु मित्र का नाटक 'नील दर्पण तथा बंकिमचन्द्र चटर्जी जिनके ऐतिहासिक उपन्यासों की पराकाष्ठा थी आनन्दमठ' जिसमे वंदे मातरम् गीत था। विपिनचंद्र पाल ने अपने पत्र न्यू इंडिया 10 मार्च 1903 में कहा था कि इलबर्ट बिल के समय से ही अमूर्त धर्म के हित में राजनीति की अवहेलना होती रही है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय गीतों का स्थान धार्मिक गीतों ने ले लिया है। महादेव गोविंद रानाडे ने अपनी ऐतिहासिक रचनाओं व लेखों में शिवाजी का गौरवमंडन प्रारंभ किया जिसे 1895 में तिलक ने अपना लिया। शिवाजी को 'राजा' के रूप में अपने गाथा–गीतों के माध्यम से ज्योतिबा फूले ने प्रस्थापित किया। यहीं विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलुणकर ने अपनी पत्रिका निबंधमाला द्वारा नवजागरण और ब्रिटिश विरोध का प्रखर स्वर दिया।

उक्त विश्लेषणोपरांत यह कहा जा सकता है कि अपनी कतिपय असफलताओं के बावजूद प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की एक ऐसी ठोस नीव रखी जिसपर भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

साम्राज्यवाद :— राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य साम्राज्यवाद की आर्थिक विवेचना है। राष्ट्रवादियों ने आर्थिक शोषण के तीन रूपों व्यापार, उद्योग और वित पर गहनतम दृष्टि रखा, तत्पश्चात् ये यह अच्छी तरह समझ गए थे कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद के पीछे सारतत्व यही है कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन रखना। इन राष्ट्रवादियों ने भारत की गरीबी के लिए सरकारीनीतियों को उत्तरदायी माना। दादा भाई नौरोजी ने कहा है कि भारतवासी मात्र परजीवी दास थे।

वे अमरीकी गुलामों से भी बदतर थे क्योंकि कम से कम उनकी देखरेख उन अमेरिकी मालिकों द्वारा की जाती थी जिनकी वे संपति थे। उन्होनें घोषणा की कि ब्रिटिश शासन, अनंतकाल तक का बढ़ता, निरंतर बढ़ता हुआ ऐसा विदेशी आक्रमण है जो धीरे—धीरे लेकिन पूरी तरह देश को नष्ट कर रहा है। पॉवर्टी ऐंड अन— ब्रिटिश रूल इन इंडियाश में दादाभाई नौरोजी ने साम्राज्यवाद के आर्थिक दुस्परिणामों का उल्लेख किया। धन—निष्कासन के परिणामों की गंभीरता को समझकर राष्ट्रवादियों ने सरकारी आर्थिक नीतियों में बदलाव की मांग की।

संपति के निष्कासन पर रोक लगाने किसानों पर करों का बोझ कम करने विदेशी पूंजी के भारत में प्रवेश पर रोक लगाने, भारतीय उद्योगों को विकसित करने की मांग, सरकार के समक्ष रखी गई। काँग्रेस ने बगान मजदूरों की अवस्था सुधारने तथा नमक कर समाप्त करने की भी मांग की। कांग्रेस ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि सरकारी आर्थिक नीतियों से क्षुब्ध होकर एवं भारतीय उद्योगों को विकसित करने के उद्देश्य से स्वदेशी विचारधारा को विकसित किया।

खादी पहनने का प्रचलन चल निकला और 1896 ई० में महाराष्ट्र विदेशी कपडो की होली जलाई गई, सेना और प्रशासन पर होनेवाले अनावश्यक खर्चा की कमी लाने का भी प्रस्ताव रखा। यद्यपि सरकार ने इन आलोचनाओं एवं मांगों पर कोई ध्यान नहीं दिया परंतु सरकारी आर्थिक नीतियों की आलोचना कर उसे सबके सामने रखकर कांगेस ने श्राष्ट्रीयताश की भावना विकसित करने में मदद पहुंचाई। कानून और व्यवस्था के बारे में दादा भाई नौरोजी ने लिखा कि भारत में एक कहावत प्रचलित है पीठ पर मार लो भैया, मगर पेट पर मत मारो। देशी तानाशाह के अधीन जनता जो कुछ पैदा करती है उसे अपने पास रखती है और उपयोग करती है हालांकि कभी—कभी उसे पीठ पर कुछ हिंसा झेलनी पड़ती थी।

उल्लेखनीय है कि स्थानीय आवश्यकताओं की स्थानीय करों द्वारा पूर्ति करके वित्तीय कठिनाईयों को सुलझाने हेतु अधिक से अधिक भारतीय सहयोगियों की तलाश की जाती थी। वित्तीय दबाव एवं प्रशासनिक कसाव, राजनीतिक रूप से खतरनाक न हो इसके लिए आवश्यक था कि राजनीतिक सहभागिता भारतीयों को उपलब्ध कराई जाए। अनिल सील का कहना है नामांकन की व्यवस्था, प्रतिनिधित्व और चुनाव, ये सब भारतीयों को साम्राज्यवादी लक्ष्यों की पूर्ति की

दिशा में जुटाने के साधन थे। वहीं यह भी देखा गया, सब भारतीयों को साम्राज्यवादी लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में जुटाने के साधन थे। वहीं यह भी देखा गया कि देशी अधिकारियों को समान परिस्थितियों में यूरोपीय अधिकारियों के बराबर वेतन नहीं मिलना चाहिए। इससे उत्पन्न होने वाले हंगामे के फलस्वरूप राष्ट्रवादी समाचार पत्र हिन्दू की स्थापना हुई। कम भाग्यशाली भारतीयों को लातो और घूंसो के रूप में नस्लवाद का सामना करना पड़ता था।

पूंजीवाद :– बबई और गुजरात में पूजीवाद का विकास किन्तु बंगाल में पूंजीवाद लगभग नगण्य अवस्था में रहा, कारण कि बंगाली भद्रलोगों में व्यापार और उद्योग के प्रति सहज ही रूचि नहीं थी, साथ ही स्थायीबंदोबस्त के कारण देशी पूंजी का प्रवाह भूमि की ओर अधिक रहता था, परंतु कालातर में इसमे परिवर्तन हुआ और बंगाली पर्याप्त संख्या में व्यापार से जुड़े। व्यापार में पारसियों की सफलता का रहस्य उनमें ऐसी किसी विशेषता का होना था जो 'प्रोटेस्टेट नैतिकता के काफी निकट है, किन्तु व्यापार में पारसियों जितने या उनके भी अधिक सफल गुजराती और मारवाड़ी बनियों में आधुनिकतावादी सांस्कृतिक मूल्य शायद ही पाए जाते हो, जबकि आर्थिक उद्यम के क्षेत्र में बंगाली ब्रद्धासमाजियों के लिए आधुनिकता सहायक सिद्ध नहीं हुई। अमिय बागची रू अर्थव्यवस्था पर विदेशी साम्राज्यादी प्रभुत्व अलग–अलग मात्राओं में स्थापित था। अंग्रेजों ने बंबई के उद्योगों की प्रति न केवल चुंगी एवं आबकारी की घोर भेदभावपूर्ण नीतियां अपनाकर बल्कि अनेक संरचनात्मक बाधाएं लगाकर भी देशी पूंजीवाद के विकास को कुंठित किया। अहस्तक्षेप की नीति के फलस्वरूप सरकारी नीतियां सक्रिय रूप से यूरोपीय उद्यम को बढ़ावा देती थी। संगठित मुदा बाजार पर प्रायः अंग्रेजों का नियंत्रण था। 1914 से पूर्व केवल दो बड़े भारतीय बैंकों का अस्तित्व था– बैंक बाजार पर प्राय अंग्रेजों का नियंत्रण था।

1914 से पूर्व केवल दो बड़े भारतीय बैंकों का अस्तित्व था– बैंक ऑफ इंडिया और पंजाब नेशनल बैंक। कदाचित सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उन्नसवीं सदी में भारत की आर्थिक प्रगति मुख्यत निर्यात की आवश्यकताओं से जुड़ी हुई थी और विनिमय बैंको, आयात–निर्यात फर्मों एवं जहाजरानी प्रतिष्ठानों के माध्यम से मुख्यतः अंग्रेजो का ही बाह्य व्यापार पर नियंत्रन था। इन उक्त परिस्थितियों भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को तीव्रता प्रदान किया। अंग्रेजों का सामूहिक एकाधिकार सर्वप्रथम पूर्वी भारत पर हुआ और विकास भी किया।

इसके विपरीत पश्चिमी भारत में भारतीय व्यापारियों ने चीन और अन्य देशों से होनेवाले समुद्रपारीय व्यापार में अपनों को मजबूती से बनाए रखा था क्योंकि अग्रेजो का राजनीतिक नियंत्रण वहां बहुत बाद में पहुंचा और उसका प्रभाव थोड़ा कम रहा। 1818 में लड़े गए तृतीय आंग्ल मराठा युद्ध में मराठों के पतन तक पश्चिमी भारत में देशी राजनीतिक शक्ति पर्याप्त सुदृढ थी। इसके बावजूद देशी राज्यों का जो गठजोड़ बना वो बंगाल के मानचित्र से एकदम अलग था। टिम्बर्ग के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रथम विश्वयुद्ध तक व्यापारिक मारवाड़ी घरानों की भूमिका अनिवार्यतः आश्रित जैसी थी।

इस प्रकार ताराचंद घनश्यामदास की विशाल फर्म जिसका उन्होने विस्तृत अध्ययन किया है शा पैलेस के बनियों के रूप में कार्य करती थी। ध्यातव्य है कि ऐसे ही आश्रित सहयोग के संबंध गोयनका और रल्ली बंधुओं, झुनझुनवाला और ग्राहम परिवार, जेटिया और एंड्रयू मूल के बीच भी थे। 1885 तक राजनीतिक रूप से जागरूक भारतीय इस बात को निश्चित रूप से समझ चुके थे कि सभी वायसराय एक जैसे नहीं होते और लिटन एवं रिपन के बीच जमीन आसमान का अंतर मानते थे। इस अंतर को ये सीधे–सीधे ब्रिटिश राजनीति में टोरियों एवं लिबरलों के संघर्ष से जोड़कर देखते थे।

1915 इंडियन नेशनल इवॅाल्यूशन का इतिहास लिखते समय नरमदलीय कांग्रेस के एक नेता अंबिकाचरण मजूमदार लिटन के शासनकाल में घिरते हुए बादलों की एवं रिपन और डफरिन के शासनकाल में बादलों के छूट जाने एवं श्उषा का प्रकाश फैल जाने की बात करते है। इसी प्रकार 1880 के दशक के प्रारंभ में 1869 से 1880 केकंजर्वेटिव दुस्साहस की तुलना 1880–88 के लिबरल प्रयोग से की गई है । यह प्रयोग एक प्रयास था कि भारतीय सहयोगियों के दायरे को राजाओं और जमींदारों से बढ़कर इसमें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीय समूहों को सम्मिलित करना इस मध्यवर्ग को लिटन ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि ये बाबू है जिन्हें हमलोगों ने शिक्षित किया है ताकि वे देशी अखबारों में अर्ध–राजद्रोहपूर्ण लेख लिख सकें'।

विदित है कि पूंजीवाद और राजनीति का साथ दिया और बाती जैसा होता है तभी तो दिसम्बर 1888 में दिनशा वाचा ने तो यहां तक कह दिया था कि वे किसी लिटन को बर्दाश्त कर सकते है मगर किसी डफरिन को नहीं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारत में ब्रिटिश सरकार ने सन् 1813 के बाद यहां के प्रशासन, अर्थतन्त्र और समाज में जिस तरह के परिवर्तन लाने शुरू किए उनका उद्देश्य इन्हीं हितों की सिद्धी था। शताब्दियों से सूती कपड़े तथा हस्तशिल्प की अन्य चीजों का निर्यात करने वाला भारत उन्नीसवीं शताब्दी में सूती कपड़ों का आयात और रूई तथा अन्य किरम के कच्चे माल का निर्यात करने वाला हो गया था, इतना ही नही भारत एक साथ ही मंहगे प्रशासनिक एवं सैनिक ढांचे का खर्च और शिक्षा, सिचाई, संचार – व्यवस्था और आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए जरूरी घन व्यवस्था नहीं कर सकता था। वास्तव में भारत में उपनिवेशवाद में यह एक केन्द्रीय अंतर्विरोधी रोष था।

औपनिवेशिक शोषण के अधिक विस्तार के लिए आंतरिक विकास की आवश्यकता थी, लेकिन भारत को पिछड़ा हुआ रखा गया था अतः शोषण की इस प्रक्रिया ने ही अधिक विस्तार को असंभव बना दिया। जिस भारत में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव इसलिए किया गया था ताकि यह एक लाभकारी उपनिवेश बन सकें। उसी भारत में परिवर्तन ने साथ ही साथ ऐसे राष्ट्रवादी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का संघटन किया और औपनिवेशिक शासन के समक्ष संकट उत्पन्न कर दिया।

■

कामकाजी महिलाओं के समक्ष कार्य के दौरान

समस्याओं का अध्ययन

प्रो. शैलेन्द्र सिंह/संगीता सिंह*

दुनिया की आधी आबादी महिलाएं हैं। वे परिवार का केन्द्र बिन्दू होती हैं। घर को व्यवस्थिति रखने में सबसे बड़ी उन्ही की भूमिका होती है। कामकाजी महिलाओं को सदैव दोहरी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। प्रथम घर के अन्दर दूसरा अपने कार्यस्थल पर। उन्हें अपने ऑफिस के साथ ही साथ समस्त घरेलू कार्यों को भी व्यवस्थित तरीके से करना पड़ता है, दोनों स्थितियों में महिलाओं को सामन्जस्य बनाकर चलना होता है, इसके चलते उन्हें अनेकों घरेलू एवं ऑफिस में आने वाली समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

इसके चलते कई बार वे स्वयं को असहज महसूस करतीं हैं। पहले संयुक्त परिवार होते थे, कार्य का उत्तरदायित्व बंट जाता था किन्तु औद्योगीकरण व ाहरीकरण की प्रक्रिया के चलते एकाकी परिवार बढ़े, जिसका परिणाम ये हुआ कि महिला को प्रत्येक कार्य स्वयं ही करना पड़ता है, परिस्थिति चाहे जो भी हो। इससे महिला कई बार शारीरिक एवं मानसिक रूप से भी परेशान होती है।

बीज शब्द

1.कामकाजी महिलाएं।

2.कार्य के दौरान आने वाली समस्यायें।

3.संवैधानिक अधिकार।

4.संगठित एवं असंगठित क्षेत्र में रोजगार।

प्रस्तावना

महिलाएं आज कई संस्थानों में नौकरी करती हैं, जहाँ ज्यादातर लोग अपरिचित एवं द्वितीयक या त तीयक सम्बन्धी होते हैं। जिनसे केवल व्यवसायिक नाते ही होते है। ऐसे में उन्हे कई बार कार्य के दौरान असहजता का भी सामना करना पड़ता है, कई बार कुछ उसी कार्यालय में बुरी नियत वालेव्यक्ति भी होते हैं, जिससे महिलाओं को कई व्यक्तिगत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज की कामकाजी महिलाओं को दुहरी मार का सामना करना पड़ता है।

* संपर्क – प्रो.शैलेन्द्र सिंह, विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे.एस.विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद, उ0प्र0
E-mail- shsilendra@gmail.com
संगीता सिंह– शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, जे0एस0 विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद, उ0प्र0।

मध्यकाल में नारी की स्थिति बहुत ही खराब हो गयी थी, आजादी के बाद जबसे संविधान का निर्माण हुआ, महिलाओं को भी संवैधानिक आजादी मिली, जिसके चलते उन्होंने अपने पढ़ाई के स्तर को सुधारा और वे लगातार धीरे–धीरे देश के विकास में अपना योगदान दे रही हैं। इसी के चलते उच्च वर्ग के साथ ही साथ आम शहरी परिवारों की नारियाँ भी शिक्षित हुईं उन्होंने अपने पैरों पर खड़े होने की। कोशिश की कई महिलाओ ने उसमें सफलता भी प्राप्त की लेकिन पुरुषवादी सोच हमेशा उनके आड़े आयी, जिस कारण उन्हें अनेकों समस्याओं का सामना करना पड़ा, पुरुषों की अपेक्षा आज भी ऑफिसों, स्कूलों, कारखानों आदि में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या कम है। इसलिए उन्हें कई बार कार्य के दौरान असुरक्षा महसूस होती हैं। इसके साथ ही साथ उन्हें घर और परिवार दोनों जगह सामन्जस्य बैठाना पड़ता है। उन्हें दुहरा काम करना पड़ता है–घर और कार्यालय, दोनो जगह परं परम्परागत रूप से घर का भी काम महिलाओं के हिस्से आता है। पहले संयुक्त परिवार के चलते महिलाओं का काम बट जाता था और उनको मदद मिल जाती थी किन्तु महिलाओं को प्रत्येक कार्य घर और कार्यालय दोनो जगह स्वयं ही करना पड़ता हैं। एक कामकाजी महिला को पुरुषों से दो गुना काम ज्यादा करना पड़ता हैं।

अनेकों अध्ययनों से यह प्रमाणित होता है कि कार्यरत महिलाओं के सामने मुख्य समस्या भूमिका संघर्ष की है। वे स्वयं को परिवार व कार्यालय के अनुसार कैसे समायोजित करती हैं, निम्न प्रतिबिम्ब व दोहरी भूमिकाएं कामकाजी महिलाओ के लिए भूमिका संघर्ष पैदा करती हैं, जिनका प्रभाव पारिवारिक सम्बन्धों की अपेक्षित भूमिकाओं पर पड़ता है। कामकाजी महिलाएं आज भी आर्थिक रूप से पुरुषों से मुक्त नहीं हैं क्योकि जो महिलाएं अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं, वे अपनी आय को अपनी स्वेच्छा से व्यय करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं।

व्यवसायिक भूमिकाओं और परम्परागत भूमिकाओं को एक साथ निभाना एक महिला के लिए प्राकृतिक और कृत्रिम रूप से बहुत कठिन हो जाता है। आज भी परिवार में अनेकों कार्य व भूमिकाएं हैं, जिनके निर्वाह की पूरी जिम्मेदारी एक महिला की ही मानी जाती हैं। इसलिए एक कार्यरत महिला के लिए दोनों क्षेत्रों में समायोजन करना बड़ी समस्या उत्पन्न कर देता है।

साहित्य का पुनरावलोकन

1.सत्यशील अग्रवाल ने (2016) 'भारतीय कामकाजी महिलाओं की समस्याये' में बताया कि भारत में महिलाओ में शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के करण प्रसव के दौरान कई बार उन्हें जीवन गवाना पड़ता है। अर्थात् महिलाओं की स्थिति में सुधार की आवश्यकता है।

2.रचनाकार (2018) ''भारत में महिलाओं की वर्तमान स्थिति में सुधार की सामाजिक विवेचना'' ने अपने लेख में महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक

और राजनीतिक स्थिति की मुख्य धारा में लाने के लिए उनकी सोच मे मूलभूत परिवर्तन, आत्म निर्भरता की आवश्यकता है।

3.परमजीत कौर (2011) ''असंगठित क्षेत्र में महिलाएं : घरेलू कार्यशील महिलाओं के केसस्टडी'' में घरेलू कार्य सर्वाधिक अशिक्षित 83 प्रतिशत महिलाएं अंशकालीन से अविकसित पाई गई। घरेलू नौकरी में अधिकांश अपने परिवार की देखभाल के कारण रोजगार से नहीं उबर पायी हैं।

4.वर्षा कुमारी द्वारा ओडिशा राज्य के 'राउरकेला शहर' सार्वजानिक क्षेत्र के उद्यमों, बैंक, स्कूल व कालेजों में कार्यरत महिलाएं जैसे विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों में कार्यतर महिलाओं की समस्याओं और चुनौतियों का अध्ययन किया गया। अध्ययन में पाया गया कि विभिन्न आयु–वर्ग में एवं विशेष वर्ग की महिलाओं तथा विभिन्न श्रेणियों में कार्यरत महिलाएं जैसे अविवाहित महिलाएं, विवाहित महिलाएं, तलाकशुदा महिलाएं और परिव्यक्ता महिलाओं की समस्याओं व चुनौतियों में विभिन्नता पायी जाती है लेकिन इसके साथ ही निश्चित रूप से कुछ सामान्य तरह की समस्याओं जैसे शारीरिक व मानसिक तनाव, नौकरी परिवार के बीच उचित संन्तुलन की समस्या, परिवार की देखभाल व कार्य स्थल पर भेदभाव आदि का सामना करना पड़ता है।

5.सिन्हा रानाडे (1976) ने दिल्ली व बिहार की कामकाजी महिलाओं के सरकारी योजना के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये, उन्होंने पाया कि महिला कर्मचारियों के स्वास्थ्य, उनकी भर्ती, उनके काम की स्थिति के बारे में कोई अच्छा ध्यान नहीं दिया जाता, उनके अनुसार महिला कर्मचारियों की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

6.सी0एम0 पालविया और वी जगन्नाथ (1978), उन्होंने उत्तर प्रदेश के (कावल गांव) में कामकाजी महिलाओं के बारे में अपना शोध प्रस्तुत किया कि आर्थिक रूप से शोषित महिलाएं जो ज्यादातर क्षेत्र में निवास करती हैं, उनका जीवन वास्तव में चिन्ताजनक है क्योंकि उनको काम के लिए काफी दूर तक जाना पड़ता हैं, जिस कारण वे अपने परिवार को उचित समय नहीं दे पातीं। जिससे परिवार के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश पर सीधा नकारात्मक असर पड़ता है।

7. शोभा उपाध्याय, सौम्या पण्डित का अध्ययन मध्यम वर्ग की कामकाजी महिलाओं की दोहरी भूमिका व्यवसायिक व सामाजिक भूमिका के अन्तर्सम्बध पर केन्द्रित है। अध्ययन में पाया गया कि मध्यम वर्ग की महिलाएं अपने परिवाारिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए कार्य करती हैं तथा महिलाओं द्वारा विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं के निर्वाह के फलस्वरूप पारिवारिक जीवन में दबाव एवं तनाव में वृद्धि हुई है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन में कार्यरत महिलाओं के समक्ष आने वाली समस्याओं के अध्ययन में पाया गया कि कामकाजी महिलाओं की सबसे बड़ी समस्या है, दोहरी

जिम्मेदारी का बोझ। महिलाओं पर व्यवसाय का उत्तरदायित्व बढ़ा देने के बावजूद उनकी पारम्परिक भूमिकाओं में कोई काट–छांट नहीं की गई है किन्तु ये तथ्य भी सामने आये हैं कि वर्तमान युग में पुरुष तथाकथित स्त्रियोचित कार्य करने में शर्म महसूस नहीं करते हैं तथा वे ग्रह प्रबन्ध में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हैं। वर्तमान में महिलाएं संयुक्त परिवारों से निकलकर एकाकी परिवार में रहना चाहती हैं। वे एकाकी परिवारों की स्थापना कर स्वतंत्र जीवन व्यतीय करना और पारिवारिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना चाहती हैं। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि महिलाओं का स्थान पुरुषों के समान महत्त्वपूर्ण है। अतः उनकी प्रत्येक क्षेत्र मे उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता है।

कामकाजी महिलाओं को कई बार कार्य के दौरान शारीरिक व मानसिक शोषण का भी सामना करना पड़ता हैं। जिसके चलते वे कई बार कष्ट में आ जाती हैं और वे घर व कार्यालय में सामन्जस्य स्थापित करने में काफी कठिनाई होती है।

सुझाव

1. भारत का सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य कामकाजी महिलाओं को उचित व्यवसायिक वातावरण उपलब्ध नहीं करता। इसलिए उचित होगा कि सार्वजनिक निजी प्रतिष्ठानों में महिला सुरक्षा एवं आत्म सम्मान से जुड़ी आधारभूत प्रणाली का विकास किया जाए तथा संस्थानों में कार्यरत महिलाओं के व्यवसायिक संतुष्टि हेतु कार्य की अनुकूल दशाओं में वृद्धि करनी चाहिए।
2. कामकाजी महिलाओं को संवैधानिक अधिकारों की जानकारी प्रदान की जाए।
3. सरकार द्वारा उनकी व्यक्तिगत समस्याओं को गुप्त रखते हुए त्वरित निवारण दिया जाए।
4. महिलाओं की समस्याओं के समाधान हेतु जो हेल्पलाइन दी जाए वह त्वरित समाधान करे।

संदर्भ

1. आहूजा राम, भारतीय सामाजिक व्यवस्था (2009), रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
2. सिंह वी0एन0, आधुनिकता एवं महिला सशक्तिकरण, (2010) रावत पब्लिकेश, जयपुर।
3. गुड़े, विलियम जे0, वर्ल्ड रिवोल्यूशन एण्ड फैमिली पैटर्न, द फ्री प्रेस न्यूयार्क कोलियर, मैकमिलन, लंदन।
4. शर्मा अनुपम, इक्कीसवीं शताब्दी में महिला समस्यायें एवं सम्भवनाएं (2013), अल्फा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
5. कपूर डॉ0 प्रमिला, कामकाजी भारतीय नारी, (2009) राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

■

बहिरंग चिंतन

हरिवंश नारायण की कहानियों में मानवतावाद

ब्यूटी कुमारी*

मानवतावाद अंग्रेजी के Humanism शब्द से आया है, जिसके मूल में मानव शब्द है। यह एक जीवन–दर्शन है जो मानव की समानता में आस्था रखता है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने सम्पूर्ण मानव जगत के कल्याण की कामना की है।

विद्धानों ने मानवतावाद और मानववाद में अन्तर स्पष्ट किया है। मानववाद में केवल 'मानव' को ही केन्द्र में रखा गया है। उसकी अस्मिता, प्रतिष्ठा आदि पर मानववाद में जोर दिया जाता है, किंतु मानवतावाद में मानव कल्याण पर भी बल दिया जाता है। हिंदी साहित्य कोश के अनुसार ''पश्चिमी जगत् में मध्यकाल की समाप्ति करने में जिन विचार धाराओं ने विशेष योग दिया, उनमें मानववाद एक प्रमुख विचारधारा है। मध्यकाल में धार्मिक घटाटोप के कारण समस्त मूल्यों और प्रतिमानों का स्रोत किसी–न–किसी दिव्य सत्ता को माना जाता था और मनुष्य को आरंभ से ही उस दिव्य प्रतिमान से नीचे गिरा हुआ प्राणी माना जाता था। मानववादियों ने इस मान्यता का तिरस्कार किया। उन्होंने यह घोषित किया कि सम्पूर्णतम मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है। इसके लिए मानववादियों ने एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ता का निषेध किया और दूसरी ओर अमानवीय यान्त्रिकता का। मानववादी यह मानते हैं कि मनुष्य में जो पाशविक है और जो दिव्य है, उन दोनों के मध्य में कुछ ऐसा है जो पूर्णतः मानवीय है और उसी को नैतिकता, कला, सौन्दर्य बोध तथा अन्य आचार विचार का प्रतिमान मानना चाहिए। कालान्तर में मानववाद के अन्तर्गत बहुत से विचार और बहुत प्रकार की प्रवृतियाँ समाहित होती गयीं, जिनमें तो बहुत–सी तो परस्पर विरोधी भी थीं और कभी–कभी मानवता की ऐसी व्याख्याएँ उपस्थित करती थीं, जो एक दूसरे से पृथक् थीं।''[1]

मानवतावाद मानव–मूल्यों और चिंताओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। संसार की समस्त प्रगति का केन्द्र बिंदु मनुष्य है और मनुष्य के सर्वांगीण विकास में उसकी भौतिक प्रगति के साथ–साथ उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति भी अपेक्षित है। व्यक्ति मानव समाज का ही एक अंश है। अतएव व्यक्ति

* संपर्क – ब्यूटी कुमारी : द्वारा रत्नेश कुमार, ग्राम+पो० – तीनी लोदीपुर, थाना– चण्डी, जिला– नालन्दा, बिहार–801305, मो.– 9931331100, शोध छात्रा, हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

को मात्र अपने लिए ही नहीं; अपितु समाज के कल्याण के लिए भी कार्य करना चाहिए। धर्मशास्त्रों में 'धर्मार्थ काम मोक्षस्य' कहकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों का विवेचन है। यही मानव जीवन की सार्थकता है। अतः मानव के समस्त कर्म समाज कल्याण पर केन्द्रित होना चाहिए। विदेशों में भी प्रोटागोरस, हर्डर आदि चिंतक मानवतावादी हैं। भारत में राजा राम मोहन राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गोपाल कृष्ण गोखले, अरविंद घोष, पं० दीनदयाल उपाध्याय मानवतावादी चिंतकों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर आध्यात्मिक मानवतावादी चिंतक थे। वे मानव समाज में ही नहीं अपितु, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास रखते थे। ईसा मसीह, महावीर स्वामी, महात्मा गाँधी आदि भी ऐसे ही मानवतावादी विचारक थे। मानवीय उच्चतर मूल्य ही मानवतावाद का द्योतक है। इसके अनुसार मानव मानव से कभी घृणा न कर एक दूसरे का कल्याण करे तथा उसकी स्वतंत्रता और आवश्यकता या लाभ की चिंता करे। मानवता की सेवा ही धर्म और पूजा है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकार हरिवंश नारायण की कहानियों में मानवीय मूल्यों की प्राण प्रतिष्ठा करने का सत्प्रयास किया गया है। हरिवंश नारायण ने उच्च वर्गों के लोगों में भी कभी–कभी स्वाभाविक मानवीय गुणों का उल्लेख अपनी कहानियों में किया है। 'कहानी आपकी' कथा संकलन में एक कहानी है 'एक ही रास्ता।' इसमें रवि निम्न वर्ग का लड़का है जो मेधावी है। वह उच्च शिक्षा के लिए शहर के कॉलेज में नाम लिखाने आया है। पहले तो विद्यालय के शिक्षकों ने उसकी मदद की थी। अब शहर आया तो लड्डू बाबू, जो कि उच्च वर्ग के हैं, उन्होंने भी उसका साथ दिया। कहानीकार के शब्दों में दोनों पटना के लिए रवाना हुए। रात में लड्डू बाबू ने रवि को शहर में घुमाया। दूसरे दिन कॉलेज गये। संयोग वश उन्हीं लोगों का नाम पुकारा जा रहा था जिनका नाम अब तक नहीं लिखा पाया था। रवि आज प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ संस्थान का विधार्थी बन गया। लड्डू बाबू ने अपने ही साथ रवि को रखा। लड्डू बाबू कोई साधारण मानव नहीं हैं। वे समाज से काफी भिन्न हैं। मदद करना उनकी हॉवी है लेकिन गाँव, समाज, विरादरी और परिवार से बगावत कर लोकहित करने की बात तो इतिहास के पन्नों में नहीं लिखी हुई है। समाज ने लड्डू बाबू को धर दबोचा, लाचार कर दिया। परिवार में भाई–बंधु की बातों को टालना तो और दुश्कर था। आखिर लड्डू बाबू विचलित हो ही गये। नारद जी जैसे तपस्वी जब हारे गये, तब लड्डू बाबू की क्या विसात? रवि! कहीं दूसरा डेरा खोज लो! लड्डू बाबू ने कहा आदमी का क्या भरोसा और भाग्य का क्या ठिकाना?''[2]

इस कहानी के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि कभी–कभार उच्च वर्ग के किसी खास व्यक्ति में मानवतावादी भाव यदि आ भी जाता है तो उसी वर्ग के या उसके परिवार वाले ही निम्न वर्ग के प्रति ईर्श्या, द्वेष या घृणा का भाव पैदा कर देते हैं। कहने का अर्थ यह है कि उच्च वर्ग के लोगों में अधिकांशतः निम्न वर्ग के प्रति मानवतावादी भाव नहीं पनपता, अगर पनपता भी है तो उसकी कोई खास वजह या कारण होता है या दिखावा भी हो सकता है। कहीं जब निम्न वर्ग

का आदमी बड़े पद पर चला जाता है तो अपने बुरे दिनों को याद कर वह गरीबों की सहायता दिल खोलकर करता है। रवि के बी०डी०ओ० बनते ही गरीबों का विकास चरम पर पहुँच गया। कहानीकार के शब्दों में ''प्रत्येक गाँव में गरीबों को स्वावलंबी बनाने के लिए बैंक वाला फार्म भरवाया गया। बैंक के मैंनेजरों की बैठक हुई। हर गरीब टोली में रिक्शा, ठेला, गाय, भैंस, बकरियाँ आदि नजर आने लगीं। सड़कें शहर जैसी हो गयीं। कम्बल–बुनाई कपड़ा सिलाई, हैंडलूम, मूर्ति निर्माण के धंधे गाँव–गाँव में फैलने लगे। युवकों के लिए मोटर बाईडिंग, सायकिल रिपेयरिंग, चटाई–बिनाई जैसे छोटे–छोटे रोजगारों का जाल बिछने लगा। बचे–खुचे अनाथ, बूढ़े बूढ़ियों के लिए सामाजिक सुरक्षा राहत की व्यवस्था हुई।''[3]

कभी–कभी कुछ उच्च वर्ग के लोगों के ह्दय में अनाथ, स्त्री और निम्न वर्ग के गरीबों पर मानवतावादी भावना अनायास उमड़ पड़ती है। 'कीचड़ में कमल' शीर्षक कहानी में सुन्दरी जहाँ ईंट ढोने के काम में लगी हुई है; उसे वहीं एक बच्ची जन्म ले लेती है। वह बच्ची को जन्म देकर उसे नाले के पानी से धो–पोछकर पुनः अपने काम में जुट जाती है। वहाँ के मुंशी ब्राह्मण जाति के हैं। उच्च वर्ग के हैं। फिर भी सुन्दरी की हालत पर उन्हें तरस आ जाता है। मजदूरनी सुन्दरी के प्रति उनका मानवतावादी भाव इस प्रकार प्रकट होता है– ''सुन्दरी! तुम्हारी यह बेटी मेरी भी तो कुछ लगती है। मैं इस फार्म का मालिक हूँ। ''मुंशी जी पेशे से तो मुंशी हैं लेकिन फार्म के प्रशासनिक एवं आर्थिक निर्णय लेने में बहुत हद तक सक्षम हैं। नवजात को देखकर मुंशी जी ने कोश से 50/– (पचास रूपये) की स्वीकृति दी। पंडित होते हुए भी अत्रा–पत्रा का ज्ञान उन्हें नहीं था। बगल के टोले में अपने स्वजातीय ज्योतिषी को बुलवाकर उस नवजात की जन्म कुंडली बनवाने लगे। सुन्दरी अपने काम पर डटी रही। ज्योतिशी ने पत्रा निकाला और बच्ची की कर्म कुंडली बनायी। गुरू का योग है। तुला राशि है। समाज को संतुलित करने की कोशिश करेगी।'' यह मजूरा की बेटी है ज्योतिशी जी। मेरी पोती नहीं है। 'मुंशी जी ने कहा।''[4]

पुरानी पीढ़ी के कुछ सवर्णों में जो बेहद चालाक और दूरदर्शी किस्म के होते हैं उनमें नयी मानवता की भावना विकसित होती देखी जा सकती है। इसी संकलन में एक कहानी हैं– 'भूख'। इस कहानी में एक निम्न वर्ग का लड़का मोहन शहर में रिक्शा चलाता है और पढ़ाई भी करता है। उसे एक दिन एक उच्च वर्ग के किसान गणेश बाबू जो शहर में ठेकेदारी भी करते हैं, मिल जाते हैं। उन्हें रिक्शे पर बिठाकर मोहन एक घर में ले जाता है। वे अंदर देर लगा देते हैं तो मोहन परेशान हो जाता है। मोहन को कॉलेज में क्लास छूट रहा था। जब मोहन गणेश बाबू को अपने बारे में पूरी जानकारी देता है और यह भी बताता है कि वह मैट्रिक फर्स्ट डिविजन से पास है तो वे बहुत भावुक हो जाते हैं। वे अपने यहाँ ले जाकर उसे उसका वाजिब किराया देकर उसे शरबत भी पिलवाते हैं। उसे अपनी पत्नी जानकी और बेटी किटी से परिचय भी करवाते हैं और मोहन से अपनी बेटी को ट्यूशन पढ़ाने, खाने–पीने और मुफ्त में आवास देने की बात भी आत्मीयता पूर्वक कहते हैं। पर, मोहन अपनी माँ के कारण उनके पास नहीं रह सकता, परन्तु उनकी

बेटी किटी को ट्यूशन पढ़ाने के लिए स्वीकार कर लेता है। कालान्तर में मोहन एक बैंक का अधिकारी बन जाता है और स्वयं दौड़–दौड़ कर जन सेवा के कार्य में लगा रहता है। जरूरत मंदों को तत्काल लोन दिलवाता है। अच्छे काम के चलते जिलाधीश की सिफारिश से उसे सरकारी गजटेड ऑफिसर की सारी सुविधाएँ मिलने लगती हैं। वह पूर्णतया मानवतावादी प्रकृति का व्यक्ति है। अपने ड्राईवर यूनिस के गंभीर रूप से बीमार पड़ने पर अस्पताल में उसकी हर प्रकार की सहायता करने को वह तत्पर रहता है और बड़े डॉक्टर चटर्जी से अपने खर्चे पर उसका इलाज करवाता है। उसका अपेंडिस फटा हुआ था। उसके सारे शरीर में विश फैल गया था। पर मोहन की मिहनत से उसे नवजीवन मिल जाता है। यूनुस की माँ और पत्नी आँचल फैलाकर उसे लाख–लाख दुआएँ देती हैं। वह उसे भगवान कहकर संबोधित करती है। साथ–ही–साथ हिन्दू धर्म के प्रति भी उसकी आस्था बढ़ जाती है। कहानीकार के शब्दों में –''भोर हुआ। यूनुस ने आखें खोल दीं। ऐसा लगा मानो मोहन को ही नयी जिंदगी मिली हो। सलमा को हुनमान जी की मनौती पर विश्वास हो गया। आखिर लक्ष्मण को भी जीवन–दान हनुमान जी ने ही तो दिया था।

''नहीं–नहीं! हनुमान तो मोहन बाबू हैं। लड्डू इन्हीं पर चढ़ायेंगे। ''मन–ही–मन सलमा सोचने लगी हर आदमी एक दूसरे के लिए भगवान है। जो जिस की मदद करे, उसके लिए वही भगवान है। ''इस थ्योरी पर सास–पुतोह में सहमति हुई।

''बेटा आप भगवान है।'' यूनुस की माँ ने कहा। ''सब ऊपरवाले की क पा है।'' मोहन बाबू ने जवाब दिया। ''नहीं बेटा! न कुछ ऊपर है, न कुछ नीचे। सारा–का–सारा जमीन पर ही है। हर जीव में भगवान का अंश है बेटे! कोई किसी को बर्बाद करता है तो कोई किसी की रक्षा करता है। बर्बाद करने वाला ही यमराज है और रक्षा करने वाला भगवान।''[5]

ईश्वर के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा मानवतावाद का लक्षण है। जिसमें मानवतावाद है वह भगवान न सही भगवान का भेजा हुआ प्रतिनिधि तो अवश्य ही है। इस कहानी में मुस्लिम सम्प्रदाय की यूनुस की माँ और पत्नी जिसकी अथक सेवा मोहन। (एक हिन्दू) करता है। इसी में उन्हें ईश्वर (खुदा) के दर्शन होते हैं। गाँधी ने धर्म सम्प्रदाय भूलकर पीड़ित मानवता की सेवा को महत्त्व दिया था। इसका फल यह मिला था कि मोहन के अच्छे कर्मों से खफा होकर कुछ असामाजिक तत्त्व हत्यारे के रूप में एक रात उस पर घात लगाये हुए थे, पर सलीम और यूनुस ने उसे दूसरे रास्ते से ले जाकर उसकी रक्षा की। एक बार गणेश बाबू भी मोहन की बैठकवाली दफ्तर में लोन संबंधी काम के लिए आये। मोहन ने उनकी जी–जान से सहायता की। गणेश बाबू ने मोहन ही मानवता की चर्चा अपनी पत्नी और अपनी बेटी से की थी। सभी बड़े प्रसन्न हुए।

'अंतिम आदमी' हरिवंश नारायण की मानवतावाद पर आधारित एक अनूठी कहानी है। इस कहानी की भूरि–भूरि प्रशंसा कई वरीय आलोचकों ने अपने मुक्त कंठ से की है। आज की राजनीति अब सेवा–भाव, त्याग–तपस्या और

सद्भाव का सूचक न होकर छल–प्रपंच, दुराव–छिपाव और विखराव की दासी होकर रह गयी है। मानववाद की प्रतिष्ठा के लिए 'अंतिम आदमी' अर्थात् दीन–दलितों और कमजोर वर्गों के हाथ में आर्थिक स्वतंत्रता के लिए शिक्षा–प्रशिक्षण एंव सहकारिता की व्यवस्था की आवश्यकता है। इसीलिए उसे अपनी समस्याओं से जूझने के लिए उसके हाथ में ब्रह्मास्त्र रूपी शिक्षा का सूक्ष्म औजार लेखनी कहानीकार उसे थमाना उचित और आवश्यक समझता है।

'नैनी' कहानी में दलित तथा स्त्रियों के प्रश्नों को न केवल उठाया गया है अपितु उसका समुचित समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। 'दरबा' कहानी में हरिवंश नारायण अपनी परिवर्तन धर्मी चेतना के स्फुलिंग को यत्र–तत्र बिखेरते हैं। इन मानवतावादी कहानियों के संबंध में डॉ० सुरेश माहेश्वरी ने सच ही लिखा है– ''आज भी अपने आदिम संसाधनों से अपनी मूल आवश्यकताओं की जैसे–तैसे पूर्ति करता है। राजकीय व्यवस्था उस अंतिम आदमी की जीवन शैली में बदलाव का मात्र वचन ही देती है। ऐसे में हरिवंश नारायण अपनी संवेदना अंतिम आदमी की पीड़ा को मिटाने में कहानी कला की सहायता लेते हैं और आशातीत सफलतापूर्वक उसकी जीवन शैली को 'लेखनी' के माध्यम से बदल देते हैं।''[6]

हरिवंश नारायण की कहानी ''गूँगा महल' मानववादी विचारधारा का जीता–जागता उदाहरण है। राजनैतिक विद्रूपता और असामाजिक कुकृत्यों के कारण आज मानवीय मूल्य, विवेक और संवेदनाएँ क्षत–विक्षत हैं। भ्रष्टाचार, चोरी, डकैती, अपहरण और फिरौती आज व्यवसाय के रूप में फल–फूल रही है। इस संवेदनात्मक और कारूणिक कहानी में अपहरणकर्त्ता की क्रूरता के बीच एकमात्र पात्र की मानवीयता और बाकी लोगों की तटस्थता जैसे मनोभाव एक साथ सामने आते हैं।

इस प्रकार 'गोल' भेंट का फूल, 'कोर्ट अदालत' आदि कहानियों का प्रणयन लेखक ने किया है जिनमें मानवतावादी विचारधारा कूट–कूटकर भरी हुई है। समकालीन युग में मानवतावादी विचारधारा के माध्यम से कहानियाँ समाज में एक आमूलचूल परिवर्तन ला सकती हैं। इस दृष्टि से हरिवंश नारायण की कहानियाँ अंधकार में चिंगारी का कार्य करती हैं जो आगे चलकर एक मशाल के रूप में परिवर्तित होकर मानवता के नये मार्ग का अनुसंधान भी करती हैं।

संदर्भ

1. प्रथम संस्करण डॉ० धीरेन्द्र वर्मा हिंदी साहित्य कोश–भाग–1, पृ० – 314
2. हरिवंश नारायण–कहानी आपकी– एक ही रास्ता, पृ०– 32–33
3. वही, पृ० 38–39
4. वही, कीचड़ में कमल – पृ० 45–46
5. वहीं, भूख– पृ० – 130
6. सम्पादक– डॉ० धर्मेन्द्र सिंह, गंगवार – कथ्य, कथाशिल्प और कथाकार अंतिम आदमी : सृजन परिक्रमा – पृ० 90

■

बहिरंग चिंतन

महात्मा गाँधी का बनारस भाषण

डॉ. राजीव रंजन गिरि*

1915 में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे। उनके राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने सुझाव दिया कि भारत आकर शीघ्रता में कोई काम शुरू न करें। एक साल तक अपनी आँख और कान तो खुला रखें, लेकिन मुँह बन्द। गोखले जी चाहते थे कि गांधी भारत–भ्रमण करें। देश की परिस्थितियों का अध्ययन करें। चुपचाप देश की वास्तविकता समझें। मुल्क के लोगों की मनोभूमि पढ़ें। उसके बाद सार्वजनिक सवालों पर, खासकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के बारे में, अपनी राय बनाएँ और अपने आगामी कार्यकलापों की रणनीति भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह और उसमें गांधीजी की भूमिका से गोखले भली–भांति अवगत थे। वे गांधीजी की प्रतिबद्धता से भी वाकिफ थे। फिर ऐसा सुझाव क्यों दिया गोपालकृष्ण गोखले ने? क्या गोखले को यह लगता था कि उनके शिष्य के मन में भारत–दुर्दशा की जो धारणा है, वह वास्तविकता से दूर है? अथवा यह कि गांधी की राह भारत के लिए उपयुक्त नहीं? अथवा यह कि भारत के लोग गांधी–मार्ग पर चलने के लिए तैयार नहीं? अथवा यह कि गांधी के रास्ते भारत की मुक्ति मुमकिन नहीं? या इन सभी कयासों के रसायन से बना था गोखले का सुझाव।

भारत को लेकर गांधीजी ने जो धारणा 'हिन्द स्वराज' में जाहिर की थी, तत्कालीन ज्यादातर बुद्धिधर्मियों की मानिन्द गोखले जी भी उससे इत्तेफाक नहीं रखते थे। तत्कालीन सभ्यता की समीक्षा कर गांधीजी जो यूटोपिया दिखा रहे थे, उसने गोखले को सुझाव के लिए प्रेरित किया था। गोखले जी का अनुमान था कि साल भर भ्रमण और लोगों से मिलजुल कर, हकीकत जानने के बाद, गांधी अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करेंगे। अपनी धारणा बदलेंगे। जाहिर है यूटोपिया बदलेगा, 'हिन्द स्वराज' में निहित विचार भी।

इस दौरान गांधीजी देश के विभिन्न हिस्सों में गए। कई जगह उनके सम्मान में आयोजन हुए। भिन्न–भिन्न तरह के कार्यक्रमों में शरीक हुए। लोगों से संवाद किया। कुछेक भाषण भी किए। इसी क्रम में महात्मा मुंशीराम, जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से लोकप्रिय हैं और कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर से भी मिले। 31 मार्च 1915 को गांधी जी कोलकाता स्थित कॉलेज स्कवेयर के विद्यार्थी भवन में, पी.सी. लायन्स की सदारत

* संपर्क – डॉ. राजीव रंजन गिरि : हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–110007

में आयोजित एक बड़ी सभा में भाषण के दौरान, अपने गुरु के 'आदेश' का स्मरण करते हुए कहा कि मैं इस सभा में भाषण देने का लोभ संवरण नहीं कर सका।

2 फरवरी 1916 को महामना मदनमोहन मालवीय के निमंत्रण पर गांधीजी बनारस पहुँचे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बाइसवें वार्षिकोत्सव में भी शामिल हुए। कश्मीर के महाराजाधिराज के सभापतित्व में सम्पन्न इस समारोह में गांधी जी ने भारतीय भाषाओं की असीम उन्नति की जरूरत पर बल दिया। युवकों से हिन्दी में पत्र–व्यवहार करने का आग्रह किया। अँग्रेजी जानने वालों से आग्रह किया कि 'अँग्रेजी के उच्च विचार और नए खयाल सब लोगों के सामने रखें।'

अगले दिन 4 फरवरी 1916 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ। कार्यक्रम में वायसराय भी शामिल हुए थे। दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न समारोह में मालवीय जी के 'विशेष आग्रह' पर गांधीजी ने भाषण दिया। इस ऐतिहासिक भाषण से गांधी जी का महामौन टूटा।

साल भर के देश–भ्रमण के दरम्यान गांधीजी ने जो मौन रखा था वह ऋषियों की समाधिस्थ मौन नहीं था, जिसमें एक जगह बैठकर अंतप्रज्ञा का अभिज्ञान किया जाता है। गांधी ने इस कालखण्ड में खूब यात्राएँ की। हर क्षेत्र के लोगों से मिले। साहित्य, राजनीति, धर्म, अध्यात्म, समाज सुधार जैसे सार्वजनिक क्षेत्रों में काम कर रहे सचेत लोगों के साथ चर्चाएँ की। उनके विचारों को जाना, सुना और गुना। योगी की समाधि से गांधी की यह यात्राकालीन/भ्रमण/चल समाधि इस रूप में भिन्न है। कारण कि इसमें लोगों से लगातार संवाद किया गया था। पर साथ ही उनके भीतर अन्तःसलिला की तरह विचार–चेतना प्रवाहित हो रही थी। कुछ छूट रहा था तो कुछ जुट रहा था। घटाव और जोड़ चल रहा था। योगी की समाधि में भी यही होता है। भीतर के उथल–पुथल के बगैर समाधि सम्भव नहीं। ऊपर शान्त–प्रशान्त और अन्तर्जगत में अन्तःसलिला जब चरम पर पहुँचता है, समाधिस्थ को अन्दर भी प्रशान्त कर जाता है।

यह भाषण इस मायने में भी ऐतिहासिक महत्त्व का था कि इसमें गांधीजी ने अपनी धारणा मजबूती के साथ जाहिर की। मंच पर मौजूद एनी बेसेंट को गांधीजी की बातें आपत्तिजनक महसूस हुई। उन्होंने गांधीजी को भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा। गांधीजी ने अध्यक्ष से पूछा कि अगर 'आपकी समझ में मेरी इन बातों से देश और साम्राज्य को हानि पहुँच रही है तो मुझे अवश्य चुप हो जाना चाहिए।' अध्यक्ष ने गांधीजी को अपने कथन का आशय स्पष्ट करने के लिए कहा। गांधीजी अपनी बात साफगोई से कह रहे थे परन्तु एनी बेसेंट मंच से उठकर चली गई। साथ में कई गणमान्य भी चले गए। नतीजतन गांधीजी का भाषण अधूरा रह गया।

एक साल भारत–भ्रमण और लोगों से संवाद के पश्चात, राष्ट्र और राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में, गांधीजी ने युवाओं की मौजूदगी में अपने विचार साझा किये तो एनी बेसेंट सरीखे तत्कालीन नेतृत्व को पसन्द नहीं आया। आखिरकार क्या था इस भाषण में? जिसके बारे में गांधीजी ने कहा था कि, 'आज मैं भाषण नहीं देना चाहता, श्रव्य रूप में सोचना चाहता हूँ। यदि आज आपको ऐसा लगे कि मैं असंयत होकर बोल रहा हूँ तो कृपया मानिए कि कोई आदमी जोर–जोर से बोलता हुआ सोच रहा है और

वही आप सुन पा रहे हैं। और यदि आपको ऐसा जान पड़े कि मैं शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर रहा हूँ तो कृपया उस स्वच्छन्दता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।'

गांधीजी ने कहा कि इस पवित्र नगर में, महान विद्यापीठ के प्रांगण में, अपने देशवासियों से एक विदेशी भाषा में बोलना शर्म की बात है। विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जिन लोगों ने गांधीजी से पूर्व अँग्रेजी में अपना भाषण पेश किया था, उन लोगों को शायद ही यह अनुमान था कि विदेशी भाषा में बोलना शर्म–सरीखा है। कहना तो यह होगा कि ज्यादातर लोग अँग्रेजी में बोलना गौरव मानते रहे हैं। इसे गुमान समझते हैं। गांधीजी इस गुमान को शर्म बता रहे थे। इन्होंने आशा प्रगट की कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाएगा। अगर ऐसा नहीं होता तो बकौल गांधीजी 'हमारी भाषा पर हमारा ही प्रतिबंध है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार अभिव्यक्त किए ही नहीं जा सकते, तब तो हमारा संसार से उठ जाना अच्छा है।' यह भाषण एक सदी पहले दिया गया था। आज भी ऐसा सोचने–माननेवाले मिलते हैं जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भारतीय भाषाओं को तंग बताते हैं। गांधी के लिए ऐसी सोच अपनी भाषाओं पर प्रतिबंध सरीखा है।

गांधीजी ने वहाँ मौजूद लोगों से सवाल किया कि क्या कोई स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अँगरेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? श्रोताओं ने 'नहीं, नहीं' कहकर जवाब दिया। यह उत्तर सुनकर गांधीजी ने पूछा कि 'फिर राष्ट्र के पाँवों में यह बेड़ी किसलिए?'

उन्होंने कहा कि 'भारत के अँगरेजीदाँ ही देश की अगुवाई कर रहे हैं और वे ही राष्ट्र के लिए सब–कुछ कर रहे हैं। ... मान लीजिए हमने पिछले पचास वर्षों में अपनी–अपनी भाषाओं के जरिए शिक्षा पाई होती, तो हम आज किस हालत में होते?' इस प्रश्न का स्वयं जो उत्तर दिया, वह काबिलेगौर है, कि आज भारत स्वतन्त्र होता, हमारे पढ़े–लिखे लोग अपने ही देश में विदेशियों की तरह अजनबी न होते बल्कि देश के हृदय को छूनेवाली वाणी बोलते; वे गरीब–से–गरीब लोगों के बीच काम करते और पचास वर्षों की उनकी उपलब्धि पूरे देश की विरासत होती।

गांधीजी ने यहाँ तक कहा कि आज तो हमारी अर्धांगिनियाँ भी हमारे श्रेष्ठ विचारों की भागीदार नहीं हैं। अंग्रेजी शिक्षा ने पति–पत्नी के विचारों के बीच बड़ी खाई पैदा की थी। उस दौर में देश की अगुवाई करने वाले पुरुष तो अँग्रेजी शिक्षा में दीक्षित थे, परन्तु स्त्रियाँ इससे वंचित थीं। वनस्पतिशास्त्री सर जगदीशचंद्र बोस और रसायनशास्त्री पी.सी. रॉय तथा उनके शानदार आविष्कारों का हवाला देकर गांधीजी ने पूछा कि क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि जनता का उनसे कुछ लेना–देना नहीं?

गांधीजी ने भारत की ख्याति का कारण आध्यात्मिकता को बताया। इस क्षेत्र में भारत की कोई सानी नहीं है, ऐसा कहा। पर साथ में यह भी कहा कि बातें बघार कर आध्यात्मिकता का संदेश नहीं दिया जा सकता। ऐसा संदेश महज तकरीरों के जरिये नहीं दिया जा सकता। हालाँकि गांधीजी ने यह माना कि हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुँचे हैं; पर यह पर्याप्त नहीं। बकौल गांधीजी 'अब

हमारे मनों में स्फुरण होना चाहिए और हाथ–पाँव हिलने चाहिए।' बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इस समारोह में कहा गया था, जिसकी याद गांधीजी ने भी दिलाई कि 'भारतीय जीवन की सादगी कायम रखनी है तो हमें अपने हाथ–पाँव और मन की गति में सामंजस्य लाना आवश्यक है।' यह मूल सवाल है। विचार की दिशा में हाथ–पाँव का हिलना। सोच की दिशा में कदम बढ़ाना। कर्म को शब्द के निकट ले जाना और इनमें सामंजस्य स्थापित करना। तभी, विचार श्रोताओं के हृदय को छूने में सफल हो सकते हैं।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जो भाषण हुये, उसके बारे में गांधीजी ने क्यों कहा कि इन व्याख्यानों ने श्रोताओं के हृदय नहीं छुए। यह भी कहा कि यहाँ जो भाषण हुए उसके बारे में, लोगों की परीक्षा ली जाए और मैं निरीक्षक होऊँ तो निश्चित है कि ज्यादातर वक्ता फेल हो जाएँ। अलबत्ता गांधीजी यह मानते थे कि वक्ता भाषण देने की कला में लगभग शिखर पर पहुँच गये हैं। वक्ता भाषण देने की कला में शिखर पर हैं, फिर भी फेल कैसे? गांधीजी ने बताया कि २८ दिसम्बर १९१५ को राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस के बम्बई (अब मुम्बई) में सम्पन्न तीसवें अधिवेशन में तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए, जो हिन्दी में दिए गए थे। ध्यान दिलाया कि यह मुम्बई की बात है, बनारस की नहीं; जहाँ सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। प्रसंगवश, याद रखना होगा कि बनारस के सभी लोग हिन्दी नहीं, भोजपुरी बोलते रहे हैं। हाँ, हिन्दी समझ लेते होंगे।

अपने भाषण के आरम्भ में ही गांधीजी ने यह कहा था कि 'अभी–अभी जो महिला भाषण देकर बैठी हैं, उनकी अदभुत वाकशक्ति के प्रभाव में आकर आप लोग कृपया इस बात पर विश्वास न कर लें कि जो विश्वविद्यालय अभी तक पूरा बना और उठा भी नहीं है, वह कोई परिपूर्ण संस्था है और अभी जो विद्यार्थी यहाँ आए ही नहीं हैं, वे शिक्षा–संपादन करके यहाँ से एक महान साम्राज्य के नागरिक होकर निकल चुके हैं।' इस वक्तव्य में दो बातें काबिलेगौर हैं। एक, वक्ता की वाक्शक्ति के असर में बातों पर विश्वास नहीं करने के लिए कहना। दो, अँगरेजी हुकूमत को 'महान साम्राज्य' बताना।

अब प्रश्न उठता है कि वक्ताओं ने हिन्दी में अपने विचार व्यक्त किए होते तो क्या श्रोताओं का हृदय छूने में पूर्णतया सफल होते? गांधीजी के अनुसार क्या यह 'पर्याप्त' होता? कहना होगा कि श्रोताओं के हृदय छूने के लिए भाषा पहली सीढ़ी है, एकमात्र नहीं।

गांधीजी के भाषण का एक हिस्सा भाषा के मुद्दा पर केंद्रित था, दूसरा कांग्रेस द्वारा पास स्वराज के प्रस्ताव पर। गांधीजी को विश्वास था कि अखिल भारतीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग अपना कर्तव्य पूरा करेंगी और कुछ–न–कुछ ठोस सुझावों के साथ सामने आयेंगी। साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग क्या–कुछ कर पाती हैं, इसमें मेरी उतनी दिलचस्पी नहीं है, जितनी इस बात में कि विद्यार्थी–जगत क्या करता है या जनता क्या करती है। काँग्रेस और मुस्लिम लीग की वनिस्पत विद्यार्थियों और किसानों को तवज्जो देना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गांधीजी की आगामी नीति– स्वाधीनता संग्राम की अगुवाई के दौरान जिसे हकीकत बननी

थी, की झलक मिलती है। काँग्रेस की कमान गांधीजी ने संभाली, उससे पहले काँग्रेस बैरिस्टर, जमींदार सरीखे उच्च वर्ग के लोगों तक महदूद थी। गांधीजी ने इसे किसानों–मजदूरों से जोड़ा। इन्होंने पूरी साफगोई से कहा कि 'कोई भी कागजी कार्रवाई हमें स्वराज नहीं दे सकती।' काँग्रेस का प्रस्ताव पास करना, कागजी कार्रवाई ही तो था। इसके मद्देनजर 'ठोस सुझाव' सामने लाना था, और अपना 'कर्तव्य' भी पूरा करना था। गांधीजी का मतलब साफ था कि काँग्रेस कागजी कार्रवाई से आगे बढ़े। इन्होंने काँग्रेस अध्यक्ष से सहमति जाहिर की कि स्वराज की बात सोचने के पहले हमें बड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी।

किस दिशा में मशक्कत? किस मार्ग पर? क्या करना होगा काँग्रेस को, स्वराज की खातिर? गांधीजी ने संकेत दिया था, विद्यार्थी और किसान क्या करते हैं, इसे महत्त्व देकर। इनके प्रति दिलचस्पी प्रगट कर। यह भी कहा कि 'धुआँधार भाषण हमें स्वराज के योग्य नहीं बना सकते। वह तो हमारा आचरण है जो हमें उसके योग्य बनाएगा।' कैसा होना चाहिए हमारा आचरण, कि हम स्वराज के काबिल बन सकें? गांधी–चिंतन में आचरण पर सबसे ज्यादा जोर है। विचार और आचरण का समन्वय। विचार और कर्म की एकता।

स्वराज पाने के लिए आचरण को कसौटी बनाना, नितांत मौलिक बात थी। यह गांधीजी का पक्ष था। एक मजबूत पक्ष।

स्वराज के सवाल के साथ गांधीजी ने स्वच्छता का प्रश्न जोड़ा। इसके माध्यम से व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक आचरण का सवाल भी उठाया। इन्होंने कहा कि 'कल मैं विश्वनाथ के दर्शन के लिए गया था। उन गलियों में चलते हुए, मेरे मन में ख्याल आया कि यदि कोई अजनबी एकाएक ऊपर से इस मन्दिर पर उतर पड़े और यदि उसे हम हिंदुओं के बारे में विचार करना पड़े तो क्या हमारे बारे में कोई छोटी राय बना लेना उसके लिए स्वाभाविक न होगा? क्या यह एक महान मंदिर हमारे अपने आचरण की ओर उँगली नहीं उठाता? मैं यह बात एक हिन्दू की तरह बड़े दर्द के साथ कह रहा हूँ। क्या यह कोई ठीक बात है कि हमारे पवित्र मंदिर के आसपास की गलियाँ इतनी गन्दी हों? उसके आसपास जो घर बने हुए हैं, वे बे–सिलसिले और चाहे जैसे हों। गलियाँ टेढ़ी–मेढ़ी और सँकरी हों। अगर हमारे मंदिर भी सादगी और सफाई के नमूने न हों तो हमारा स्वराज कैसा होगा?'

स्वराज का प्रश्न उठानेवाले लोगों की निगाहों से ऐसे मुद्दे बहुत दूर थे। पर गांधीजी के हिसाब से ये तमाम मुद्दे स्वराज के प्राथमिक सवाल थे। गांधीजी ने पूछा कि 'चाहे खुशी से, चाहे लाचारी से अँग्रेजों का बोरिया–बिस्तर बँधते ही क्या हमारे मन्दिर पवित्रता, स्वच्छता और शान्ति के धाम बन जाएँगे?' वे मन्दिर की सफाई तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने रेलगाड़ी के डिब्बे की गंदगी की तरफ भी ध्यान दिलाया। बकौल गांधीजी 'यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में बरता जाता है, हम उस पर जहाँ–तहाँ थूकते रहते हैं। हम जरा भी नहीं सोचते कि हमें वहाँ क्या फेंकना चाहिये, क्या नहीं और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गन्दगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है।' नागरिक–कर्तव्य के इस सवाल के साथ गांधीजी ने वर्गीय मनोवृत्ति के बारे में बताया कि 'जिन्हें कुछ ऊँचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने

से कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डाँट–डपट का व्यवहार करते हैं।' इतना ही नहीं, यह भी बताया कि विद्यार्थी भी ऐसा करते हैं। 'वे अँगरेजी बोल सकते हैं और नारफॉक जाकिटें पहने होते हैं और इसलिए अधिकार जता कर डिब्बे में घुस जाते हैं और बैठने की जगह ले लेते हैं।' अंग्रेजी बोली और जाकिट विद्यार्थियों को अपने देश के सामान्य लोगों से कुछ दर्जा ऊपर होने का बोध कराता था! अंग्रेजी साम्राज्य की मुखालफत करने वाले विद्यार्थी का मानस स्वीकार कर चुका था–अंग्रेजी भाषा और उनकी पोशाक की श्रेष्ठता। इसी श्रेष्ठता के सहारे वे लोग सामान्य लोगों पर रौब गालिब करते थे।

दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह ने उद्घाटन समारोह के एक सत्र की सदारत की थी। अपने संबोधन में भारत की गरीबी पर प्रकाश डाला था। अन्य वक्ताओं ने भी गरीबी के सवाल पर जोर दिया था। इसपर गांधीजी ने कहा कि जिस शामियाने में वायसरॉय द्वारा शिलान्यास–समारोह हो रहा था, वहाँ काफी प्रदर्शन किया गया था। जड़ाऊ गहनों की ऐसी प्रदर्शनी थी, जिसे देखकर पेरिस के जौहरी की आँखें भी चौंधिया जातीं। जब मैं गहनों से लदे हुए उन–उमरावों और भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलता हूँ तो मुझे लगता है, मैं इन अमीरों से कहूँ 'जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा।' देशी राजवाड़ों के इस अश्लील प्रदर्शन पर टिप्पणी करते हुए गांधीजी ने कहा कि 'मुझे यकीन है कि सम्राट अथवा लार्ड हार्डिंग, सम्राट के प्रति वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिये किसी का गहनों के संदूक उलटकर सिर से पाँव तक सजकर, आना जरूरी नहीं समझते।' इन्होंने भारत के राजवाड़े, नवाब और जमींदारों द्वारा बनायी जा रही बड़ी इमारतों को लेकर दुःख जाहिर किया, क्योंकि 'ये किसानों से वसूले गए पैसों से बनता है'। जमींदारों, राजाओं और नवाबों की समृद्धि किसानों की कमाई पर टिकी होती है। तब देश में पचहत्तर प्रतिशत से भी अधिक लोग किसानी करते थे। गांधीजी ने कहा कि 'यदि हम इनके परिश्रम की सारी कमाई दूसरों को उठाकर ले जाने दें तो कैसे कहा जा सकता है कि स्वराज की कोई भी भावना हमारे मन में है।'

स्वराज का प्रस्ताव पास करने वालों और सभा–संगोष्ठियों में स्वराज का सवाल उठाने वालों से यह पूछना गौरतलब है। किसानों के परिश्रम की कमाई उठाकर कौन ले जाता था? साम्राज्यवादी शोषण–व्यवस्था और इसके अन्दर काम कर रही सामन्ती संरचना। समारोह में मौजूद राजे–महाराजे और अमीर–उमराव इस संरचना के विशेष अंग थे। यह एक मूलभूत सवाल था, जिसे गांधीजी ने उठाया। यह कहकर गांधीजी स्वराज के प्रश्न से किसानों का सवाल सम्बद्ध कर रहे थे। उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि 'हमें आजादी किसान के बिना नहीं मिल सकती। आजादी वकील और डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों के वश की बात नहीं है।' आजादी के लिए किसानों को सबसे आवश्यक तबका बताना, भारतीय स्वाधीनता–आन्दोलन के सन्दर्भ में, प्रस्थापना–परिवर्तन करने वाली बात थी। गांधीजी ने किसानों से वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों में भेद किया। गांधी के कथन में जमींदार के पहले 'सम्पन्न' शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज वैज्ञानिकों ने सातवें–आठवें दशक में यह तथ्य पहचाना कि

तमाम जमींदार एक कोटि में नहीं समाते। जमींदारों में भी स्तर भेद रहा है। इस भेद का प्रतिफल भी कई क्षेत्रों में दिखता है। वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारों के वश में देश की आजादी नहीं है, यह कहकर गांधीजी ने स्वाधीनता–आन्दोलन की तत्कालीन संरचना पर सवाल खड़ा किया। इतिहास के उस दौर में यही तबके स्वतन्त्रता–आन्दोलन की अगुआई कर रहे थे। इन्हें आजादी के लिए अपर्याप्त कहकर गांधीजी आन्दोलन की प्रकृति में बदलाव लाने का सुझाव दे रहे थे। वे किसानों का जिक्र कर बहुसंख्यक आबादी को स्वाधीनता–आन्दोलन से जोडने पर बल दे रहे थे। मुट्ठी भर वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जमींदारदृ जो कई मायनों में साम्राज्यवादी व्यवस्था के मजबूत अंग भी थे। स्वाधीनता आन्दोलन को कितने दूर तक ले जा सकते थे? देश की बहुसंख्यक जनता से कटकर देश–हित का कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, देश की आजादी का आन्दोलन तो बिल्कुल नहीं। ब्रिटिश हुकूमत की सर्वाधिक मार इस बहुसंख्यक आम अवाम को झेलनी पड़ती थी। बगैर इनके शामिल हुए आन्दोलन के सफल होने का सवाल ही नहीं था।

स्वाधीनता–आन्दोलन के तत्कालीन नेतृत्व को आजादी के लिए अपर्याप्त कहने वाले गांधीजी उस दौर तक अँग्रेजी सत्ता को देश के लिए घातक नहीं मानते थे। जो लोग उस हुकूमत को भगाना चाहते थे, वे देश की जनता को आन्दोलन से जोडने की जरूरत नहीं समझ पाये थे। लिहाजा यह बात और भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। गांधीजी ने पूरी साफगोई से कहा था कि ''यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाए कि अँग्रेजों के रहते हुए इस देश का कदापि उद्धार न होगा, उन्हें यहाँ से निकाल ही देना चाहिए, तो उनसे अपना बोरिया–बिस्तर समेटकर यहाँ से चलते होने की प्रार्थना करने में, मैं कभी आगा–पीछा न करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपनी दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को भी तैयार रहूँगा, ऐसा मरण ही मेरी सम्मति में प्रतिष्ठा का मरण है।''

प्रसंगवश, गांधीजी के अनन्य अनुयायी आचार्य जे.बी. कृपलानी ने अपने संस्मरण 'गुलामी बापू की' में लिखा है कि अकसर लोग मुझसे पूछते हैं कि आप हिंसा में भरोसा रखने वाले हैं और गांधी ठहरे परम अहिंसावादी! गांधीजी ब्रिटिश राज्य में श्रद्धा रखने वाले हैं और आप उसका उच्छेद करने वाले। तो आपने उनका नेतृत्व किस प्रकार स्वीकार किया? जवाब में कृपलानी जी कहते हैं : मैंने इस आदमी में एक शक्ति देखी है। वह है या तो काम को अन्त तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। इसलिए मैंने इनको अपना नेता स्वीकार किया है। दूसरे, उनमें सच्चाई है। आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आ जाएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चल कर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। इस एक ही चीज ने मुझे उनके प्रति आकृष्ट किया है। इसीलिए मैं उनके साथ हूँ। हिंसा के विषय में तो मेरा विश्वास हो गया है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। उनको जिस क्षण यह लगा कि ब्रिटिश राज्य देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। ब्रिटिश

शासन को उन्होंने शैतानी राज्य कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा।

सवाल पैदा होता है कि अगर गांधीजी को समझ में आता कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है और वे हिंसा की राह अपनाते तो क्या इसे पलायन कहा जाता? जवाब होगा नहीं। कारण कि यह न तो किसी सुविधा के लिए होता और न ही किसी वैचारिक ढुलमुनपन अथवा दुविधा के कारण। आचार्य कृपलानी ने इस काल्पनिक स्थिति के लिए भी कहा है कि ऐसी परिस्थिति में गांधीजी जिस उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं। यहाँ भी वे स्वयं के उत्सर्ग के लिए तैयार रहते। यहाँ नोट करने लायक है गांधी–भावना। गांधी अगर अहिंसा से हिंसा की राह पर जाते तो यह भी सत्य के प्रयोग का एक पड़ाव ही बनता। उनका समूचा जीवन सत्य तक पहुँचने का प्रयोग था। बहरहाल ऐसी कल्पना करने वाले आचार्य कृपलानी ने पूरी साफगोई से कहा है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। गांधी का समूचा जीवन अहिंसा के प्रयोगों का पर्याय था। ये तमाम प्रयोग देश व दुनिया के कल्याण के लिए थे। इसमें पूरी मानवता की चिन्ता थी। एक नयी सभ्यता गढने की अकुलाहट का परिणाम थे ये सारे प्रयोग। इसमें किसी के शोषण के लिए गुँजाइश नहीं थी। यही वजह है, जैसा आचार्य कृपलानी ने भी बताया है कि, जिस क्षण गांधी ने समझा ब्रिटिश राज देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। गांधीजी ने ब्रिटिश शासन को 'शैतानी राज्य' कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा। ब्रिटिश शासन के प्रति श्रद्धा रखनेवाले गांधी उसे शैतान कहने लगे। इतनी मजबूती से कहने लगे कि देशभर ने इस पर भरोसा किया, रंचमात्र भी संदेह न कर, ब्रिटिश हुकूमत को शैतान कहा।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भाषण में गांधीजी ने स्पष्ट किया था कि अगर उन्हें यह समझ में आ जाए कि अंग्रेजों के रहते देश का उद्धार कतई नहीं होगा तो उनसे भारत से चले जाने हेतु प्रार्थना करने में बिल्कुल आगा–पीछा नहीं करूँगा। ऐसा ही किया भी। इसे समझते ही पूरी प्रतिबद्धता के साथ अंग्रेजी सत्ता को यह अहसास कराने में जुट गए कि उन्हें भारत से सात समुद्र पार चले जाना चाहिए। अपनी इस दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को तत्पर रहने की बात उन्होंने की थी। इस तरह के मरण को श्रेष्ठ भी बताया था। इस पर भी वे बिल्कुल सच्चे साबित हुए। उनके जीवन ने इस धारणा को पुष्ट किया। इसी ने आचार्य कृपलानी सरीखे अनेक लोगों के अन्तःकरण में गांधी की अगुवाई स्वीकारने का भाव जगाया।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के दौरान जो माहौल बना था, उससे गांधीजी का मन उद्विग्न था। इसका कारण था, स्थान–स्थान पर लगाई गई खुफिया पुलिस। आयोजन में वाइसरॉय शामिल हुए थे। उनकी सुरक्षा के मद्देनजर यह तैनाती हुई थी। गांधी के मुताबिक इसका कारण था अविश्वास। भारतीय लोगों के प्रति शासकों में अविश्वास। अगर शासक और शासितों में विश्वास होता तो सुरक्षा के इन्तजाम नहीं होते। जगह–जगह खुफिया पुलिस नहीं लगाई जाती। गांधी इस अविश्वास का कारण पूछते हैं। इसकी वजहों पर विचार करते हैं। एक–दूसरे के

प्रति अविश्वास और परिणामस्वरूप सुरक्षा के लिए खुफिया पुलिस की तैनाती गांधी के हिसाब से मरणान्तक दुःख है। वे कहते हैं कि 'इस प्रकार मरणान्तक दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लार्ड हार्डिंग के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है। परन्तु एक बलशाली सम्राट के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भाँति जीना ही वे शायद जरूरी समझते हों।' विद्यार्थियों की सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए गांधी यह कह रहे थे। वे ही ऐसा कह सकते थे; सबकी मौजूदगी में। कारण कि उनका मन साफ था। पारे की तरह। सुरक्षा के ऐसे पुख्ता इन्तजाम के साथ जीना मृतक की तरह जीना है। फिर ऐसे जीवन का क्या मतलब? इस जीवन से श्रेयस्कर है सचमुच मर जाना। वायसराय लार्ड हार्डिंग के लिए सहजतापूर्वक गांधीजी ने जो कहा, उसे सुनने के लिए मंच पर आसीन लोग तैयार थे? थोड़ी देर बाद भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा गया, उसका राब्ता इससे जुड़ता प्रतीत होता है।

गांधीजी यह भी पूछते हैं कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? जवाब में इसके लिए अराजक दल को जिम्मेदार मानते हैं। गांधी खुद को अराजक ही कहते हैं, 'मैं खुद भी अराजक ही हूँ, पर दूसरे वर्ग का।' इन दोनों अराजक वर्ग की विभाजक रेखा है हिंसा। गांधी अराजक थे, अहिंसक अराजक। वे हिंसक अराजक दल की उत्पति का कारण मानते हैं, उतावलेपन का नशा। वे इस समूह को स्पष्टतया कहते हैं, 'यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहाँ जगह नहीं है।' कारण कि हिंसा कायरता का लक्षण है। हिंसा की पैदाइश की बड़ी वजह कायरता है। ईश्वर के प्रति अटूट आस्था वाले गांधी हिंसा में भरोसा रखने वाले लोगों को कहते हैं, 'यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है; फिर चाहे वे राजा–महाराजा हो, वाइसरॉय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सम्राट हों।' गांधी के मन में हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश–प्रेम के प्रति आदर–भाव था। गहरा सम्मान। उन्होंने कहा है कि "अराजकों के स्वदेश–प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूँ। वे जो स्वदेश के लिए आनन्दपूर्वक मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उनकी मैं इज्जत करता हूँ।' गांधी हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश–प्रेम का सम्मान करते थे। वतन के लिए खुशी–खुशी मरने वाले जज्बे की भी इज्जत करते थे। फिर भी उनके मार्ग से घोर असहमति रखते थे।

गांधीजी ने भाषण में उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या मृत्युदंड प्राप्त होता है उसे किसी भी प्रकार गौरवपूर्ण माना जा सकता है?' वे स्वयं जवाब भी देते हैं–'नहीं।' वजह बताते हैं कि 'कोई धर्मग्रन्थ ऐसे उपाय का अवलम्बन करने की अनुमति नहीं देता।' सवाल उठता है कि कोई धर्मग्रन्थ इसकी इजाजत देता तो क्या स्वीकार करते? गांधी की मनोभूमि से वाकिफ कोई भी व्यक्ति इसका सहज जवाब दे सकता है; वे तब भी इसे हरगिज पसन्द नहीं करते। वे हिंसा कतई स्वीकार नहीं कर सकते थे। गांधी जो सभ्यता निर्मित करना चाहते थे, उसमें हिंसा के लिए कोई जगह नहीं थी।

गांधी के सपनों की दुनिया में हिंसा के लिए स्थान नहीं था। भले ही वह हिंसा किसी के भी प्रति हो। किसी पर, किसी तरह की, हिंसा गांधी को स्वीकार नहीं। दुश्मन के प्रति भी हिंसा मंजूर नहीं। यह हिंसा की संस्कृति को खारिज कर मनुष्यता पर आधारित संस्कृति गढने की आकांक्षा का परिणाम है।

गांधीजी ने इस भाषण में हिंसा की राह पर चलनेवालों को कायर बताया। पूरी साफगोई से कहा कि 'बम फेंकने वाला गुप्त रूप से षडयन्त्र करता है। वह बाहर निकलने से डरता रहता है और पकड़े जाने पर अयोग्य और अतिरिक्त उत्साह का प्रायश्चित भोगता है।' अपने विचार के प्रति सच्ची प्रतिबद्धता और उसके लिए मरने को प्रतिष्ठा का मरण कहने वाले गांधी हिंसक अराजक वर्ग की राह पसन्द क्यों नहीं करते थे? जबकि 'हिंसक अराजक वर्ग' के लोग भी अपने विचार के समर्थन में मरने के लिए तत्पर रहते थे। आखिरकार उनका मरण 'प्रतिष्ठा का मरण' क्यों नहीं? पूछा जा सकता है कि बम फेंकनेवाले अगर गुप्त रूप से षडयंत्र नहीं करें और बाहर निकलने से डरे भी नहीं, तो क्या गांधीजी इसे स्वीकार करते? हरगिज नहीं; क्योंकि बम से होनेवाली हिंसा बीच की दीवार है। गांधीजी अहिंसा की राह हरगिज नहीं छोड़ते। अहिंसा गांधी के लिए साधन मात्र नहीं है। अहिंसा साध्य है और कसौटी भी। अहिंसा के प्रतिमान पर गांधी घटनाओं को परखते हैं और स्वयं को भी।

हिंसा की राह पर चलने वालों को कायर बताना काबिलेगौर है। यह कहकर गांधीजी ने आम समझ का विलोम प्रस्तावित किया है। हमारी सभ्यता–संस्कृति का विकास जिस दिशा में हुआ है, उससे यह मिथ्या धारणा पुष्ट हुई है कि हिंसा ताकत का पर्याय है; कि हिंसा का मार्ग मजबूती का मिसाल है; कि हिंसा करने वाले पराक्रमी होते हैं। गांधीजी की चिंता और चिंतन के केंद्र में, हिंसा को शौर्य माननेवाला, यह झूठा–सच रहा है। वे आजीवन अपने शब्द और कर्म के जरिये इसका प्रतिलोम रचते रहे हैं। यह समझाते रहे हैं कि अहिंसा वीरों का मार्ग है; कि अहिंसा मजबूरी में अपनाया जानेवाला साधन नहीं है; कि अहिंसा की राह पर पराक्रमी और निडर लोग ही चल सकते हैं। अहिंसक संस्कृति की रचना ही मनुष्यता का लक्ष्य होनी चाहिए। गांधी जैसी शख्सियत के लिए यह बेहद चिंताजनक बात थी कि मनुष्य ऐसी संस्कृति निर्मित हिंसा को तवज्जो देने वाली, करने की दिशा में अग्रसर हैं। मनुष्य मात्र की भलाई अहिंसक संस्कृति में है, न कि हिंसक। गांधी हिंसा के उत्स की असली वजह कायरता को भी समाप्त करना चाहते थे। भय के कारण ही हिंसा पनपती और पल्लवित–पुष्पित होती है। निहायत भिन्न परिस्थितियों में भी हिंसा के उत्स का कारण एक ही होता है भय। भले ही वह भिन्न–भिन्न तरह का भय हो। गांधी अभय–संस्कृति रचना चाहते थे; जिसमें कोई किसी से भयभीत न हो। जो क्रांतिकारी (गांधी जिन्हें 'हिंसक अराजक वर्ग' सम्बोधित करते हैं) हिंसा की राह से आजादी पाना चाहते थे, गांधी के मुताबिक वे पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधन अपना रहे थे। गांधी जैसे व्यक्तित्व के लिए सोचने की बात यह भी थी कि हिंसा के जरिये हासिल स्वराज में हिंसा के लिए जगह रह जाएगी। जो आजादी हिंसा से मिलेगी, उससे हिंसा पूर्णतः समाप्त नहीं होगी। हिंसा से हासिल स्वराज से अहिंसक संस्कृति के पनपने के लिए आवश्यक खाद–पानी मुमकिन नहीं है। गांधी

अहिंसक संस्कृति विकसित होना देखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में भी इससे लेशमात्र विलग नहीं हुए थे; जाहिर है, यहाँ भी विचलन सम्भव नहीं था।

गांधीजी अपने भाषण में, बंग–भंग में, हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा कर रहे थे। ऐन तभी मंच पर बैठी एनी बेसेंट ने हस्तक्षेप करते हुए भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा। यह चिन्तनपूर्ण भाषण जिस दिशा में बढ़ रहा था, वह श्रीमती बेसेंट को नागवार गुजरा। क्या उन्हें हिंसक आंदोलनकारियों की चर्चा उचित नहीं जान पड़ी? एनी बेसेंट की तरह गांधी भी अहिंसा के प्रतिबद्ध समर्थक थे। गांधी की जो छवि बनी थी, उसे दक्षिण अफ्रीका में उनकी भूमिका ने गढ़ा था। बेसेंट इससे वाकिफ न हों, यह मानने की बात नहीं। जाहिर है वे हिंसा का समर्थन नहीं करेंगे, इस तथ्य को भी एनी बेसेंट समझती होंगी। फिर किस बात ने प्रेरित किया कि वे गांधी का भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहें।

निश्चय ही वह बात थी, हिंसक आन्दोलनकारियों की चर्चा के पूर्व की बात; जिसमें वे देश का उद्धार न होने की समझ आने पर, अँग्रेजों से बोरिया–बिस्तर समेटकर जाने के लिए कहने और इसके लिए मरने को भी तत्पर रहने को कह रहे थे। साथ ही हिंसक आंदोलनकारियों के स्वदेश प्रेम और इसके लिए मृत्यु को गले लगाने के प्रति सम्मान की चर्चा। युवजनों के बीच सार्वजनिक सभा में ऐसी बातें कहने–सुनने से वाकिफ नहीं था तत्कालीन नेतृत्वकारी तबका। वह भी ऐसे आयोजन में जिसमें ब्रिटिश–सत्ता के प्रतिनिधि शिरकत कर रहे हों! यहाँ तक पहुँचकर गांधी के भाषण की दिशा साफ हो चुकी थी। बेसेंट सरीखी प्रबुद्ध शख्सियत इसे समझने में चूक नहीं सकतीं!

बंग–भंग के सम्बन्ध में हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा गांधीजी पहली दफे कर रहे हों, ऐसा नहीं है। उन्होंने बताया कि ये बातें मिस्टर लॉयन्स की अध्यक्षता में भी कह चुका हूँ। श्रीमती बेसेंट ने गांधीजी को जो सुझाव दिया, उसका कारण गांधीजी ने क्या समझा? उन्होंने समझा कि श्रीमती बेसेंट भारत से बहुत अधिक प्रेम करती हैं और वे समझती हैं कि युवकों के सामने इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहकर मैं अनुचित काम कर रहा हूँ। गांधीजी बेसेंट की इस धारणा से इत्तेफाक नहीं रखते थे। वे इसकी वजह मानते थे, परस्पर अविश्वास। ब्रिटिश सत्ता और भारतवासी एक–दूसरे के प्रति विश्वास के जोड़ से नहीं बँधे थे। गांधीजी अपना कर्तव्य मानते थे, दोनों के भीतर परस्पर प्रीति और विश्वास पैदा करना। बहुतेरे लोग घर की बैठक में ऐसी बातें भले ही करते हों, लेकिन सार्वजनिक तौर पर इससे परहेज करते थे। गांधीजी इसे दायित्वहीन मानते थे। वे खुले तौर पर, पूरी स्पष्टता से, ऐसी बातों की चर्चा श्रेयस्कर मानते थे। वे मानते थे कि सत्ता चलाने वालों से जो भी परेशानी हो, उसे साफ–साफ शब्दों में कहना चाहिए और इसके नतीजा स्वरूप जो कष्ट मिले, उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। लेकिन उन्हें गाली नहीं देनी चाहिए।

अंग्रेजी साम्राज्य ने अपनी हुकूमत चलाने के लिए जिस संरचना का निर्माण किया था, उसके मजबूत आधार–स्तम्भ थे, सिविल–सर्वेंट। भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचार और शोषण के एक अहम उपकरण भी थे सिविल सर्वेंट। एक बार

गांधीजी से एक सिविल सर्वेंट की मुलाकात हुई। उसने पूछा कि, 'क्या आपका भी ऐसा ही ख्याल है कि हम सभी सिविल–सर्विस वाले बुरे होते हैं और जिन पर शासन करने के लिए हम यहाँ आते हैं, उन पर हम केवल अत्याचार ही करना चाहते हैं?' गांधी जी ने नाइत्तेफाकी जाहिर की। इनकी असहमति जानने के बाद उस सिविल–सर्वेंट ने आग्रह किया कि जब कभी 'मौका मिले, आप हम अभागे सिविल–सर्वेंटों के पक्ष में लोगों के सामने दो शब्द कहने की कृपा करें।' गांधी ने इस भाषण में उसके आग्रह पर अमल किया। उन्होंने कहा कि 'इंडियन सिविल के बहुत से लोग निःसंदेह उद्धत, अत्याचार प्रिय और अविवेकी होते हैं। इसी तरह के और कितने ही विशेषण उन्हें दिए जा सकते हैं।' परन्तु इसके बाद जो विश्लेषण इन्होंने किया, मौजूद जनता ने उससे असहमति जाहिर की।

गांधीजी का मानना था कि 'कुछ वर्षों तक हमारे देश में रहकर वे और भी ओछी मनोवृत्ति के बन जाते हैं।' इसका विवेचन करते हुए, इन्होंने इसरार किया कि हमारे देश में आने के पहले यदि वे सभ्य और सत्पुरुष थे, यहाँ आकर यदि वे नीति–भ्रष्ट हो गए तो क्या इसका हमारे ही चरित्र का प्रतिबिम्ब मानना चाहिए।

श्रोता इससे सहमत नहीं थे। गांधीजी ने फिर दोहराया कि 'आप लोग खुद ही विचार करें कि एक मनुष्य, जो कल तक भला आदमी था, मेरे साथ रहने पर खराब हो जाए तो उसके इस अधःपतन के लिए कौन उत्तरदायी होगा? वह या मैं?' सभी सिविल सर्वेंटों को गलत मानना अनुचित है; साथ ही इनके अधःपतन के लिए भारतवासियों को दोषी ठहराना भी उचित नहीं। जिस सिविल–सर्वेंट ने गांधीजी से, पक्ष में दो शब्द बोलने के लिए, निवेदन किया था; मुमकिन है, वह व्यक्तिगत तौर पर भला व्यक्ति हो। लेकिन जिस साम्राज्य की हुकूमत और हिफाजत के लिए इस पद का सृजन किया गया था, उसमें भारतवासियों के प्रति अन्याय होना लाजिमी था। सिविल–सर्वेंट ब्रिटिश सत्ता के नुमाइंदे थे, भारतीय जनता के नहीं। वे अँग्रेजी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए थे, न कि भारतवासियों की भलाई के लिए। 'अभागे' तो वे कतई नहीं थे। सिविल–सर्वेंट जिस मशीन के पूर्जा के तौर पर काम कर रहे थे, पूरी मशीनरी भारतवासियों का दोहन–शोषण कर 'अभागा' बनाने का काम कर रही थी।

भाषण समापन के पहले गांधीजी ने स्वराज–प्राप्ति के सम्बन्ध में जो बातें कहीं, वह काबिलेगौर है। उन्होंने कहा कि ''यदि किसी दिन हमें स्वराज मिलेगा तो वह अपने ही पुरुषार्थ से मिलेगा। वह दान के रूप में कदापि नहीं मिलने का।'' स्वराज–आन्दोलन के सन्दर्भ में यह प्रस्थापना–परिवर्तन करने वाली बात थी। इससे साफ जाहिर होता था कि स्वराज के लिए ब्रिटिश हुकूमत पर निर्भर रहना उचित नहीं। अगर भारतवासी अपना पुरुषार्थ–प्रदर्शन नहीं करेंगे तो स्वराज दूर की कौड़ी साबित होगी। गांधीजी ने ब्रिटिश–साम्राज्य के इतिहास की तरफ ध्यान दिलाते हुए कहा कि ''ब्रिटिश–साम्राज्य चाहे जितना स्वातन्त्र्य प्रेमी हो, फिर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए, स्वयं उद्योग न करने वालों के, वह कभी स्वतन्त्रता देने वाला नहीं है।'' गांधीजी बोअर–युद्ध का हवाला देकर अपनी बात पुष्ट कर रहे थे, कि श्रीमती बेसेंट के साथ कई बड़े लोग चले गए और भाषण बाधित हो गया।

■

दक्षिण–पूर्व एशिया की कला पर

प्राचीन भारतीय कला का प्रभाव

डॉ0 सिद्धार्थ सिंह / उपेन्द्र कुमार*

प्राचीन काल से ही भारत एवं दक्षिण–पूर्व एशिया के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध रहे हैं। इस सम्बन्ध को प्रगाढ़ माने में व्यापार एवं धर्म ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके परिणामस्वरूप दक्षिण–पूर्व एशिया में कई भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई। इन भारतीय उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति के तत्वों की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। जिनमें भाषा, कला, धर्म, शासनविधि एवं अन्य तत्वों

को स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय कला के प्रभाव दक्षिण–पूर्व एशिया में विद्यमान स्थापत्य कला, मूर्तिकला आदि में दिखाई देती है। इनमें दक्षिण–पूर्व एशिया में विद्यमान मन्दिरों, स्तूपों, चैत्यों, बौद्ध बिहारों आदि का उल्लेख किया जाता है। जिनमें अंकोरवाट का मन्दिर, आनन्द पैगोड़ा, नानपाया मन्दिर, बोरोबुदूर स्तपू, जावा का चण्डीकालसन मन्दिर, माइसोन के मन्दिर, पो नगर के मन्दिर, दोंग–दुआंग के मन्दिर आदि प्रमुख है। दक्षिण–पूर्व एशिया के मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला के विषय वस्तु पर भारतीय प्रभाव तो दिखाई ही देता है साथ ही साथ निर्माण शैली पर भी भारतीय राजवंशों जैसे गुप्त, पल्लव एवं चालुक्य के कला का प्रभाव दिखाई देता है। इस शोध पत्र के माध्यम से दक्षिण–पूर्व एशिया के कला के विविध आयामों पर प्राचीन भारतीय कला के प्रभाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

कूट शब्द– दक्षिण–पूर्व एशिया, भारतीय कला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला, सूवर्णद्वीप।

प्रस्तावना :– भारतीय संस्कृति के मूलभाव 'वसुधैव कुटुम्बक' को आत्मसात करते हुए भारतीय शासकों ने कभी भी तलवार के बल पर साम्राज्य विस्तार की नीति का पालन नहीं किया। दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ भारतीयों का सम्बन्ध यद्यपि व्यापार–वाणिज्य के माध्यम से ईसा पूर्व से कई शताब्दी पहले हो चुका था तथापि धार्मिक रूप से सम्बन्धों के विस्तार की शुरूआत मौर्य सम्राट अशोक

* संपर्क – डॉ. सिद्धार्थ सिंह : असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर, उ0प्र0

उपेन्द्र कुमार : शोधछात्र, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर, उ0प्र0

द्वारा की गयी। सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए विभिन्न क्षेत्रों में भेजे गये धर्म प्रचारकों में सोन एवं उत्तरा नामक स्थिविरों को सूवर्णभूमि के क्षेत्र में भेजा था। स्त्रोतों से पता चलता है कि तृतीय सदी ईसा पूर्व तक दक्षिण–पूर्व एशिया के क्षेत्रों में किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ था इन देशों में भारतीय धर्म प्रचारकों एवं व्यापारियों ने जाकर न केवल भारतीय उपनिवेश स्थापित किया एवं धर्म प्रचार किये बल्कि इन क्षेत्रों में सभ्यता के मार्ग को प्रशस्त किया। इस सांस्कृतिक विस्तार की परम्परा मौर्य काल से शुरू होकर गुप्त काल, पल्लव काल से होते हुए चोल काल में अपने सर्वोच्च स्तर पर पहुँच गयी। भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों जिसमें मुख्य रूप से कला के तत्व को कम्बोडिया, चम्पा, म्यामार थाईलैण्ड, बाली, जावा आदि स्थानों पर न केवल प्राचीन काल में बल्कि वर्तमान समय में भी देखे जाते थे।

स्थापत्य कला पर भारतीय प्रभाव : प्राचीन भारतीय साहित्य में जिन प्रदेशों को सूवर्णभूमि कहा गया है, उसमें से एक बरमा भी है। यह वर्तमान समय में भारत के साथ सीमा को साझा करता है। पगान (अरिमर्दनपुर) के शासकों ने जिन स्तूपों, बिहारों और मन्दिरों का

निर्माण बरमा में करवाया उन पर भारतीय वस्तुशिल्प का प्रभाव दिखाई देता है। सम्राट अनिरूद्ध द्वारा निर्माण करवाये गये स्वेजिगान का महास्तूप तथा इस महास्तूप के समीप निर्मित मन्दिरों के स्थापत्य पर भारतीय वस्तुशिल्प का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। पगान (अरिमर्दनपुर) के क्षेत्र में बड़ी मात्रा में विहारों एवं मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। पगान के अवेयदान और कुत्योविक विहार के भित्ति चित्रों में बुद्ध और बोधिसत्वों के साथ–साथ ब्रह्मा, शिव, विष्णु, गणेश आदि को प्रदर्शित किया गया है।[1] इन प्रदर्शन से यह प्रतीत होता है कि भारतीय के समान बरमा में भी धार्मिक सहिष्णुता का तत्व मजबूती से विद्यमान है।

दक्षिण–पूर्व एशिया के क्षेत्र में स्थित कम्बुज (कम्बोडिया) में एक अनुश्रुति के अनुसार कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने फूनान नामक राज्य की स्थापना की। यहां पहले स्त्री का शासन था जिससे कौण्डिन्य ने विवाह किया था।[2]

कम्बुज के कला एवं स्थापत्य पर भी भारतीय प्रभाव दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो भारतीय कम्बुज के भारतीय उपनिवेश में जाकर बसे उन्होंने अपने साथ भारतीय कला एवं संस्कृति को लेकर गये तथा कम्बुज के कला को उसी रूप में पिरोया। यह भारतीय कला सुदूरपूर्व में जलीय मार्ग से पहुँची। खमेर कला के प्राचीन अंग को हिन्द खमेर कला भी कहा जाता है क्योंकि इस पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पल्लव एवं खमेर कला की शैली में अधिक समानत दिखाई देती है। गोसलिए के मतानुसार कम्बुज की प्राचीन कला को खमेर न कहकर यदि भारतीय कहा जाय तो ठीक होगा।[3] स्थापत्य कला के अन्तर्गत ख्मेर युग में निर्मित मन्दिरों में स्थानीय प्रभाव नहीं दिखाई देता बल्कि इस पर भारतीय निर्माण शैली का ही प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ के प्रारम्भिक

मन्दिर आयताकार एवं वर्गाकार होते थे जो आकार में छोटे होते हैं तथा गर्भगृह तक सीमित होते हैं। गर्भगृह में मूर्तियों या शिवलिगं को प्रतिष्ठापित किया जाता है। गर्भग्रह के चारों ओर प्राय प्रदक्षिणापथ बनाया जाता था। दीवारें साधारण होती थी जिनमें चौकोर खम्भे होते हैं ऊपर की छत पर शिखर का निर्माण किया

जाता है जो ऊपर की तरफ संकरा होता जाता है। दीवारों पर प्रायः अलंकरण नहीं होता है, लेकिन बाहरी दीवार पर जो ईंट लगाई जाती है उन पर विविध प्रकार अलंकरण दिखाई देते हैं।[4] कम्बुज में निर्मित मन्दिर की समानता गुप्त एवं पल्लव कला से की जाती है। ईंट से बने मन्दिरों की समानता सिरपुर और भीतरगाँव के मन्दिर से की जाती है। कानपुर का भीतरगाँव का मन्दिर ईंट से निर्मित गुप्त काल का मन्दिर है जो अपने अलंकृत ईंटों के लिए प्रसिद्ध है।5 मन्दिरों के द्वारों के ऊपर प्रायः पत्थर के लिन्टल है, जिन पर मकर की आकृतियाँ

बनाई गई है। दीवारों के बाहरी भाग पर जिन अलंकृत ईंटों का प्रयोग किया गया है, उन पर प्रायः प्रसाद की आकृतियां बनी है जो सम्भवतः मन्दिर की ही अपनी अनुकृति है। छत और दीवारों के मध्य में गोल कार्निस या बाहर की ओर निकली कार्निस है, जिस पर देवी–देवताओं के शीर्ष बने हैं। नक्कासी की हुई या उत्कीर्ण की गई ईंट इन मन्दिरों की एक ऐसी विशेषता है जो भारत के गुप्त युग के मन्दिरों में भी पायी जाती है।[6]

कम्बुज में सातवीं शताब्दी ई0 के प्रारम्भिक वर्षों में बना बेयगं का प्राचीन मन्दिर का निर्माण ईट से किया गया है। यह मन्दिर आयताकार है, जिसका निचला भाग भूमरा मन्दिर के समान है। इसके गर्भगृह एवं बाह्य दीवार के बीच प्रदक्षिणापथ है। यह मन्दिर तीन मंजिल ऊँचा है। जिसके ऊपर की मंजिल नीचे के मंजिल से छोटी है। मंजिल केवल अलंकरण के लिए बनाया गया है, इसका कोई वास्तविक उपयोग नहीं है। दीवारों में नकली चैत्य–खिडकियां बनी हुई है इसकी छत बेसर शैली में बनी है जैसा की कांचीपुर के कैलास मन्दिर और मामल्लपुरम के रथ मन्दिरों की है।[7] मन्दिर निर्माण में ईंटों के अतिरिक्त पत्थरों के प्रयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। इन मन्दिरों में संभोर के निकट हंचेई तथा कोंपो–थोम के प्राइन्कुक के मन्दिर का उल्लेख किया जाता है। हंचेई का मन्दिर पत्थर से बना है इसके प्रवेश द्वारा के लिंटन पर चतुर्भुज अनन्तशयन की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसकी छत भी सीधी और साधारण है। इस मंदिर की समानता आइहोल के लाड्–खान मन्दिर से की जाती है।[8] प्रेई–कुक का मन्दिर पत्थर से बना आयताकार मन्दिर है। जिसकी दीवारों पर कोई अलंकरण नहीं दिखाई देता है। हालांकि दीवारों के पतल` चौकोर खम्भों पर नक्काशी की गई है। मन्दिर की छत चपटी है और बड़े आकार के पत्थर से बनी छत के चारों ओर आगे की तरफ बढ़ा हुआ कार्निस पर देवताओं के शीर्ष बने हुये हैं। गुप्तकाल में ऐसे मन्दिर भारत में कई बने हुये हैं। इन स्थापत्य कला पर भारतीय स्थापत्य कला का इतना अधिक प्रभाव दिखाई देता है कि इस बात की कल्पना करना असंगत नहीं होगा

कि इनका निर्माण उन शिल्पियों के द्वारा ही गया होगा जिन्हें भारतीय उपनिवेशक अपने साथ कम्बुज लाये होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी या इसके पूर्व बनने वाले मन्दिरों पर विशुद्ध रूप से भारतीय प्रभाव था लेकिन नौंवी से बारहवीं शताब्दी के बीच की कला पर ख्मरे प्रभाव को देखा जा सकता है।[9] फूनान राज्य के पतन के पश्चात् कम्बोडिया में ख्मेर लोग ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। यही कारण है कि आठवीं या उससे पूर्व जो मन्दिर बने वे विशुद्ध रूप से भारतीय थे पर नौवीं सदी से जो मन्दिर कम्बोडिया में बनने शुरु हुये उस पर भारतीय कला के साथ–साथ ख्मेर कला का भी प्रभाव दिखाई देता है। भारतीय कला एवं ख्मेर कला के सम्मिश्रण से कम्बुज में जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमें से ओंकरवाट का मन्दिर भी शमिल है। इसका निर्माण सूर्यवर्मन द्वारा करवाया गया था। यह एक विशाल मन्दिर है। यहां पहले इस मन्दिर में दवे राज की मूर्ति प्रतिष्ठापित थी जो अब वहाँ नहीं है। अंकोरवाट की गैलरियों में जो चित्र उत्कीर्ण किये गये हैं, उनमें विष्णु और कृष्ण की कथाएं, असुरों और दवे ताओं द्वारा समुद्र का मन्थन तथा रामायण की कथाओं का भी अकं न किया गया है।

प्राचीन काल के चम्पा की भौगोलिक स्थित वर्तमान के दक्षिणी वियतनाम से की जाती है। जहां पर प्राचीन काल में भारतीय उपनिवेश था। चम्पा के कला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। चम्पा के माइसोन, पो–नगर, दोंग–दोआंग नामक स्थान पर बड़ी मात्रा में मन्दिर के अवशेष दिखाई देते हैं। चम्पा के मन्दिर यद्यपि जावा के बोरोबदूर अथवा कम्बोडिया के अंकोरवाट के समान विशाल नहीं है। उनमें शिल्पकला की बारीकी भी नहीं है पर उनकी बनावट अपने ढंग पर की गई है।[10] चम्पा मे ं मन्दिर निर्माण के लिए आप ईटों का उपयोग किया गया था इसी का परिणाम रहा कि उसका बहुत समय तक अस्तित्व नहीं बना रह सका। माइसोन के क्षेत्र में तीस से अधिक मन्दिरों के अवशेष विद्यमान है। इन मन्दिरों का निर्माण ऊँचे आधार पर किया जाता था। ऊचें धरातल पर बने मन्दिर तक पहुंचने के लिए पश्चिम की ओर सीढ़ियों को बनाया जाता था। माइसोन के मन्दिर मुख्य रूप से शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे उनमें शिव के अतिरिक्त उमा, गणेश, स्कन्द की मूर्तियां भी मिलती है। कतिपय मन्दिरों में पौराणिक हिन्दू धर्म के अन्य देवी–देवताओं की भी मूर्तियां की भी सत्ता है। पामतियों ने प्राप्त लेखों के आधार पर यहाँ के मन्दिरों की तिथि निर्धारण करन े का प्रयास किया।[11] चम्पा के दक्षिणी क्षेत्र में खन–होअ प्रदेश में पो–नगर के मन्दिर के अवशेष विद्यमान है। यहां से प्राप्त छह मन्दिर पौराणिक हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है। ये मन्दिर एक पहाड़ी पर उत्तर से दक्षिण की ओर दो पंक्तियों में स्थित है। इस क्षेत्र का मुख्य मन्दिर सामने के पंक्ति में निर्मित है, जिसके पीछे दो मन्दिरों का निर्माण किया गया है। पीछे वाली पंक्ति में तीन मन्दिरों का निर्माण हुआ है। मुख्य मंदिर सभी अच्छी अवस्था में है। इन सभी मन्दिरों का सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म से है। इन मन्दिरों में शिव और उससे सम्बन्धित अन्य

देवी–देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित किया गया है। माइसोन के दक्षिण–पूर्व में स्थित दोंग–दुओंग में भी मन्दिरों का समूह दिखाई देता है।

यहाँ पर बौद्ध मन्दिरों तथा अन्य मन्दिरों के निर्माण की शुरूआत नौवीं सदी में सम्राट जयइन्दवर्मा द्वारा किया गया था। चम्पा के मन्दिरों में समानता का अभाव है, हलांकि विभिन्नताओं के बावजूद कुछ तत्वों की समानता प्रायः मन्दिरों में दिखाई देता है। जिनमें मन्दिरों के निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया जाना तथा द्वारों, लिन्टन तथा कार्निस के लिए पत्थरों का प्रयोग किया जाना।[12] यहां के मन्दिर प्रायः घनाकार प्राप्त हुये हैं। जिनकी ऊँचाई, लम्बाई–चौड़ाई से अधिक है। छत का ऊपरी भाग पिरामिडाकार है। जिसमं` तीन मंजिले हैं, जो ऊपर का भाग नीचे के भाग से छोटा होता चला जाता है। जिनमें नीचे के बाहरी भाग का रूप प्रत्येक मंजिल में छोटा होता जाता है। ऊपर का शिखर लौ अथवा कमल की तरह प्रतीत होता है। इस तरह के दृश्य उड़ीसा के मंदिरों में देखने को मिलता है।[13] गर्भगृह में एक द्वार होता है, जो पूर्व की तरफ खुलता है तथा शेष तीन ओर आले होते हैं, जिस पर दीप रखा जाता है। गर्भगृह के बीच में जिन्हें चम्पा में कलन (देवस्थान) के नाम से जाना जाता है, मूर्तियों को वहां प्रतिष्ठापित किया जाता है। मन्दिर के बाहरी भाग को अलंकृत करने के लिए तोरण, मकरों, पंख फैलाये हुये हंसों एवं अप्सराओं को भूरे पत्थर पर उत्कीर्ण किया जाता है।

मन्दिर का आन्तरिक भाग प्रायः चौकोर होता है। जिसकी दीवारें सीधी तथा सादी होती है। लेकिन इन पर चिकनी पालिस की जाती है। चम्पा के मन्दिर में छत पर पिरामिडानुमा शिखर की नकल द्रविड़ शैली से ही ली गई है। क्योंकि इस प्रकार के मन्दिरों के छतों का प्रयोग हमें भारत में सातवीं शताब्दी में निर्मित मामल्लपुरम के रथ मन्दिरों और काच्चीपुरम एवं बादमी के मन्दिरों में दिखाई देती है। चम्पा में भी सम्राटों द्वारा अपने नाम के मन्दिर निर्माण किये जाने की परम्परा उसी प्रकार दिखाई देती है, जिस प्रकार पल्लव शासकों द्वारा अपने नाम के मन्दिर निर्माण की प्रथा का प्रारम्भ किया गया था।

दक्षिण–पूर्व एशिया में कला उसी प्रकार धर्म की दासी रही है जिस प्रकार भारत में। इनका प्रारम्भिक स्वरूप पूर्णतः भारतीय था जिन्हें भारतीय कलाकारों ने भारतीय प्रथा के अनुरूप संजोया। प्राचीन काल में मालाया प्रायद्वीप एवं सुमात्रा जैसे द्वीप पर बहुत से मन्दिर एवं चैत्य का निर्माण किया गया। परन्तु वर्तमान मे ं केवल उसके अवशेष हैं। हलांकि जावा एवं बाली में आज भी भारतीय कला का स्वरूप जीवित है। जावा के मन्दिरों में प्रायः समानता दिखाई है। इनके मुख्यतः तीन भाग होते थे जिसमें आधार, मुख्य भाग एवं छत होते थे। मन्दिर का मुख्य भाग आयताकार होता था। मन्दिर की छत ऊपर की तरफ क्रमशः छोटी होती जाती थी। मन्दिरों के आलों एवं दीवारों को विविध ज्यामितीय आकृतियों एवं प्राकृतिक दृश्यों से सजाया जाता था। इसमें काल तथा मकर प्रतीकों को अलग–अलग तथा कभी–कभी एक करके प्रदर्शित किया गया है। जिसकी

समानता कुमार स्वामी ने कीर्तिमुख से की है। यहां के मन्दिर में स्तम्भों एवं शीर्ष का अभाव मिलता है, साथ ही साथ मेहराबों का निर्माण वास्तविक न होकर क्षैतिज सिद्धान्त पर किया जाता था। यहां के मन्दिर समूहों में मिलते हैं।[14]

मध्य जावा में स्थित दिएंग पठार में पुरातन मन्दिर अवस्थित हैं। जिनका निर्माण लगभग आठवीं शताब्दी में हुआ था। यद्यपि यहां कई मन्दिर का निर्माण हुआ था लेकिन वर्तमान समय में केवल आठ मन्दिर अच्छी अवस्था में है। जिन्हें पाण्डव मन्दिर के नाम से जाना जाता है। इनमें पाँच, जो अर्जून समूह से सम्बन्धित है एक ही निर्माण शैली में निर्मित है– चण्डी अर्जुन, श्रीकाण्डी, भीम, पुन्तदवे एवं सेमभद्र। इनका निर्माण गुप्त कालीन मन्दिर शैली में हुआ है। यहां के मन्दिरों का आकार घनाकार है। गर्भगृह में जाने का एक प्रवेश मार्ग है शेष तीन तरफ दीवारों के तीन चौकोर स्तम्भों के बीच आलों का निर्माण किया जाता तथा द्वारा एवं आलों की मकरमुख से अलंकृत किया गया है, जो जावा के मन्दिरों की प्रधानता है।[15] इस कीर्तिमुख का निर्माण कम्बुज तथा चम्पा के मन्दिरों में मिलता है। छत चौरस तथा क्रमशः ऊपर की तरफ छोटी होती जाती थी। दिएंग के मन्दिर गुप्त कालीन मन्दिरों के समान छोटे एवं स्वतन्त्र तथा घनाकार आकृति में बने है। जिनमें क्षैतिज एवं लम्बवत विभाजन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।[16]

उपरोक्त मन्दिरों में चण्डीभीम का मन्दिर कुछ भिन्न है। इनमें आमलक जैसी आकृति दिखाई देती है, जो भुवनेश्वर के मन्दिरों के आमलकों के समान दिखाई दता है।[17]

दिएंग पहाड़ी के दक्षिण–पूर्व की तरफ इसी प्रकार के अन्य छोटे–छोटे अलंकृत मन्दिर प्राप्त होते हैं। जिनमें शैव प्रिंगयुस और सुविंग पहाड़ के निकट स्थित चण्डि सेलग्रिय मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। शैलेन्द्र शासकों द्वारा जावा में अनेक चैत्यों, बिहारों व स्तूपों का निर्माण करवाया गया। चण्डी कलसन से 778 ई0 के प्राप्त लेख से पता चलता है कि शैलेन्द्र शासक द्वारा चण्डी कालसन चैत्य में तारा देवी की मूर्ति की स्थापना की थी। यह मन्दिर (चैत्य) महायान बौद्ध धर्म के मध्य जावा में प्राचीनतम प्रतीक है।[18] यह चैत्य चौकोर चबूतरे पर बना है। जिनमें विशाल प्रदक्षिणापथ था। इसके मुख्य मुख्य द्वार पर विशाल मकर मुख का अंकन है। जिसके मुख से पांच कमल निकल रहे हैं। मन्दिर के ऊपरी भाग में कार्निस के ऊपर छोटे–बड़े आले बने हैं जिनमें चार ध्यानी बुद्ध–अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघसिद्ध की मूर्तियाँ शामिल है। तीसरी पंक्ति के मध्य से एक घण्टाकार स्तूप आरम्भ होता है। जावा में स्थित चण्डि सारि का मन्दिर दो मंजिला है, जो ऊँचे चबूतरे पर बना है। इनके नीचे का भाग मन्दिर तथा ऊपर का भाग रहने के लिए है। अतः यह चैत्य व विहार दोनों का काम करता है। नौंवी सदी में निर्मित चण्डी सेतू का मन्दिर 250 मन्दिरों का समूह है।

चण्डी सेतु की बनावट और घण्टी नुमा स्तूप शिखर द्रविड़ शैली के अन्तर्गत माना जाता है।[19] पूरे मन्दिर का क्रासनुमा निर्माण पहाड़पुर के पाल मन्दिर से

मिलता–जुलता है। केडु में स्थित बोरोबुदूर का मन्दिर पहाड़ियों को काटकर बनाया गया है। इनमें कई स्तूप बनाये गये हैं। स्ट्रटरहाड्रम के मतानुसार इसकी नौ मंजिले ध्यान की नौ अवस्थाएं हैं। वास्तव में नीचे का भाग मन्दिर के आकार का है और ऊपर का भाग बौधस्तूप में है। इस सन्दर्भ में यह भी विचार है कि इस स्तूपों का निर्माण महापरिनिब्बान सुत्त और दिव्यावदान के अनुसार हुआ है। प्रत्येक स्तूप में ध्यानी बुद्ध की मूर्ति है जो कदाचित वज्रसत्व है। बोरोबुदरू के निर्माण की तिथि लगभग आठवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में निर्धारित की जाती है।[20] अन्य मन्दिरों में चण्डीमेन्दुत तथा चण्डी पवान के मन्दिर का उल्लेख किया जा सकता है, जिस पर भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

मूर्तिकला पर भारतीय प्रभाव :– दक्षिण–पूर्व एशिया के कला पर प्राचीन भारतीय कला का प्रभाव न केवल स्थापत्य पर पड़ा बल्कि इससे मूर्तिकला भी अछूता न रह सका। मूर्तिकला पर भारतीय कला का उतना ही प्रभाव है जितना की स्थापत्य कला पर रहा। जावा में शिल्पकला का विकास भी भारतीय परम्परा के अन्तर्गत हुआ जिनके विषयों को जातक कथाओं, रामायण और महाभारत की कथाओं से लिये गये हैं। यहां पर स्वतन्त्र रूप से ब्राह्मण देवी–देवताओं तथा बुद्ध और बोधिसत्व एवं तारा और प्रजापरमिता की मूर्तियाँ पत्थर तथा धातुओं से बनी है। उपयुक्त कथाओं के विषय के चित्रण में भारतीयता की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जिस पर पल्लव, चालुक्य, अमरावती, गुप्त एवं पाल शिल्प कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मध्य जावा में ब्राह्मण मूर्तियों में शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों का निर्माण सम्बन्धित देवताओं के वाहनों के साथ किया गया है।[21] दुर्गा को बैल पर बैठे हुए महिषासुर को मारते हुये दिखाया गया है। अष्टभुजा युक्त देवी महिषासुर का बाल पकड़े हुए अस्त्र उठाते हुए दिखाई देती है।[22] केडु के मैदान में चण्डि बनाने के मन्दिर से भी शिव, ब्रह्मा और विष्णु की मर्तियाँ मिली है। इसमें चतुर्मुखी ब्रह्मा को गम्भीर मुद्रा में तथा भारतीय वेश–भूषा में दिखाया गया है। जावा से शिव की कई मूर्तियाँ मिली है।

काँस निर्मित एक मूर्ति में उन्हें पार्वती के साथ दिखाया गया है। दिएंग से प्राप्त शिवमूर्ति में शिव को पद्मासन मुद्रा में दिखाया गया है। गेमेरूह से प्राप्त शिव और पार्वती की मूर्ति पर दक्षिण भारतीय कला की काँस मूर्तियों का प्रभाव दिखाई देता है। दोनों मूर्तियों में त्रिनेत्र दिखाया गया है। चण्डि बनाने एवं चण्डिसारि से अगस्त्य की मूर्तियां मिली है, चण्डि बनोन से गरूड़ के साथ विष्णु की मूर्ति मिली है।[23] जिसे हाथ टूटे हैं हालांकि कलात्मक दृष्टि से उत्तम है। जावा से गणेश, कुबेर की भी मूर्तियां मिली है। साथ ही साथ रामायण एवं महाभारत से सम्बन्धित विषयों को मन्दिर की भित्तियों एवं आलों में उत्कीर्ण किया गया है।

कम्बुज से प्राप्त मूर्तियों में भारतीयता की झलक दिखाई देती है। कम्बुज से आठवीं शदी के पूर्व की जो मूर्तियाँ प्राप्त होती है। उसमें भारतीय गुप्तकालीन

मूर्तियों से सम्यता दिखाई देती है। इन मूर्तियों के चेहरे को मुस्कान लिये हुये खुली आँखो ं के साथ बनाया गया है। जिनमें वस्त्रों को कलात्मक ढगं से चुन्नटों को साथ उकेरा गया है। ये सभी विशेषताएं गुप्तकालीन मूर्तियों में दिखाई देती है। कम्बोडिया में सम्बोर के पास प्रसत अन्देत से प्राप्त हरिहर की मूर्ति कलात्मक दृष्टि से इस काल की उत्तम मूर्ति है। आदि ख्मेर काल में स्थापत्य की भांति जहाँ शिल्पकला के प्रतीक भी पूर्णतया भारतीय थे वहीं ख्मेरकाल में यद्यपि मूर्तिकला का और अधिक विकास हुआ और उस पर भारतीय प्रभाव भी बना रहा लेकिन ख्मेर लोगों ने कुछ मौलिक तत्वों का समावेश किया। जैसे ख्मेर काल की मूर्तियों में धार्मिक भावना तो भारतीय रहा, लेकिन मू र्तियों की वेशभूषा, अलंकरण, प्रदर्शन कला, आदि में नवीनता प्रदान की गई।[24] भित्तियों को अलंकृत करने के लिए जो चित्र बनाये गये उसके चित्रों के लिए रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथाओं का सहारा लिया गया। कम्बुज में शिव की मूर्तियां सर्वाधिक प्राप्त हुई है। जिनमें शिव मानव एवं शिवलिंग दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। यहां से चतुर्मुखी ब्रह्मा तथा चतुर्भुजी विष्णु की भी मूर्तियां प्राप्त हुई है। आर0सी0 मजूमदार का कहना है कि कम्बुज में विकसित हुई मूर्तिकला को मूल भावना गुप्तकालीन भारतीय कला ही थी जो उस समय दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का सचू क है।[25] कोम्पोन स्पूर जिल` से प्राप्त एक बुद्ध प्रतिमा को गुप्तकालीन सारनाथ की मूर्तिकला से समानता बताया है। कम्बुज से ब्रह्मा, शिव, विष्णु के अतिरिक्त हरिहर, पार्वती, उमा, लक्ष्मी, गरूड, बलराम आदि की बहुसंख्यक प्रतिमाएं मिलती है।

चम्पा से प्राप्त प्रतिमाओं में पौराणिक देवी–देवताओं की मूर्तियों के साथ–साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ भी मिली है। माइसोन का मन्दिर मुख्यतः शैव सम्प्रदाय से सम्बन्धित है जहाँ से शिव के अतिरिक्त गणेश, उमा, स्कन्द की भी मूर्तियां प्राप्त होती है। माइसोन से प्राप्त खड़ी मुद्रा में शिव की दो मूर्तियों में बनावट की दृष्टि से समानता दिखाई देती है। जिनके मुखमण्डल पर प्रसन्नता के भाव दिखाई देते हैं। यहां से शिव की एक नृत्यरत शैली में मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके एक हाथ में त्रिशूल है दूसरा हाथ खण्डित अवस्था में है, जिसके वक्ष पर माला, बाहों में भुजबन्ध, कानों में कुण्डल, हाथों में कंगन एवं पैरों में नुपूर है। जिसके सिर पर मलाओं में अलंकृत ऊँचा मुकुट है। इस प्रकार की मूर्तियां भारत में दक्षिण भारत की मूर्तियाँ एवं गुप्तकालीन शिव की मूर्ति के समान है। हलांकि इन मूर्तियों के मुख मण्डल के बनावट में चम्पा के स्थानीयता का प्रभाव दिखाई देता है। लेकिन अन्य पक्ष पर भारतीय शिल्पियों का प्रभाव दिखाई देता है। माइसोन से शेष शैय्या पर विष्णु की मूर्ति भी प्राप्त हुई है। जिसके नाभि से कमल निकल रहा है, जिस पर ब्रह्मा विराजमान है। माइसोन एवं पो–नगर से पौराणिक हिन्दू देवताओं की बहुसंख्यक मूर्तियां प्राप्त हुई है। वहीं दोंग–दुओंग स्थल से बुद्ध की अनके प्रतिमाएं मिली है जो पद्मासन मुद्रा म` बैठी हुई है। जिनमें भारतीय बुद्ध मूर्ति के समान सिर पर घुँघराले बाल हैं।

हालांकि इन मूर्तियों में वैसी सौन्दर्यता एवं कलात्मकता नहीं दिखाई देती जैसा कि भारतीय बुद्ध मूर्तियों में दिखाई देती है। दोंग–दुओंग चम्पा में बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था।

निष्कर्ष :– इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दक्षिण–पूर्व एशिया के क्षेत्रों में विकसित हुई कला के विविध आयामों पर भारतीय कला के तत्वों का प्रभाव देखा जा सकता है। हालांकि बाद के समय में स्थानीय तत्वों का सम्मिश्रण कला में होने लगा। लेकिन पूर्ववर्ती समय में विकसित हुई कला पर भारतीय तत्वों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। दक्षिण–पूर्व एशिया के मन्दिरों का निर्माण भारतीय मन्दिर निर्माण शैली में किया गया है। जिनमें शिखर की बनावट, समूह में मन्दिरों का बनाया जाना, मन्दिर के बाह्य दीवारों पर अलंकरण आदि पर भारतीय कला शैली का प्रभाव दिखाई देता है। भारतीय पौराणिक देव–देवताओं की मूर्तियां यहां के क्षेत्रों से मिलती है जिनमें विष्णु, शिव, ब्रह्म, गणेश आदि प्रमुख है। चम्पा से प्राप्त न त्यरत शिव की मूर्ति चोलकालीन शिव की नृत्यरत मूर्ति के समान है।

मूर्तियों में प्रसन्नता की भावना आभूषणों का अलंकरण, वस्त्रों की पहनाव में कलात्मकता आदि निश्चित तौर पर भारतीय कला की मूर्तियों से साम्यता रखता है। शैलेन्द्र राजाओं ने जिस तरह बौद्ध धर्म का संरक्षण दिया तथा अनेक चैत्य व स्तूपों एवं बिहारों का निर्माण करवायें। जिसमें बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियां भारतीय के बुद्ध मूर्ति के समान बनाया गया। उपर्युक्त सभी बातें निश्चित तौर पर इस बात की सूचक है कि भारतीय कला अपने आप में कितनी उत्तम है जो भारतीय शिल्पकारों के साथ दक्षिण–पूर्व एशिया में गई तथा वहाँ की सभ्यता व संस्क ति के तत्वों विशे ाकर कला को भारतीय कला के स्वरूप में पिरोया जिसकी आभा आज भी दक्षिण–पूर्व एशिया के क्षेत्रों में दिखाई देती है।

सन्दर्भ सूची–

1. सत्यकेतु विद्यालंकार, 'दक्षिण–पूर्व और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, पृ0–299
2. ए0के0 कुमारस्वामी, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट' पृ0–180
3. ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्र ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0–181
4. सत्यकेतु विद्यालंकार, दक्षिण–पूर्व और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, पृ0–106–107
5. वासुदेव उपाध्याय 'प्राचीन भारतीय स्तूप', गुहा एवं मन्दिर, पृ0–207
6. सत्यकेतु विद्यालंकार, 'दक्षिण–पूर्व और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, पृ0–212
7. रावलैड, दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया, पृ0–226
8. रावलैड, दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया, पृ0–226

9. ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्र ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0–181
10. बैजनाथ पुरी, सूदुरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0–142
11. आर0सी0 मजूमदार, 'चम्पा', पृ0–247
12. आर0सी0 मजूमदार, एंशियण्ट इण्डियन कोलोनीज इन द फार ईस्ट चम्पा (प्रथम भाग), पृ0–239
13. बैजनाथ पुरी, सूदुरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0–143
14. आर0एन0 पाण्डेय, 'दक्षिण–पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति' पृ0–341
15. हलाड, आर्टस डु एशिया आंसिएन 2, नं0 236, 254, 258, 260
16. बैजनाथ पुरी, सूदुरपूर्व में भारतीय संस्क ति और उसका इतिहास, पृ0–421
17. ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्र ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0–202
18. आर0सी0 मजूमदार, सूवर्णद्वीप, पृ0–178
19. रावलैड, आर्ट ऑफ इण्डिया, पृ0–178
20. ए0के0 कुमारस्वामी, हिस्ट्र ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ0–205
21. बैजनाथ पुरी, सूदुरपूर्व में भारतीय संस्क ति और उसका इतिहास, पृ0–428
22. हालाड, चित्र नं0 249
23. वही, नं0 42
24. बैजनाथ पुरी, सूदुरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0–311
25. आर0सी0 मजूमदार, एन एंशियण्ट हिन्दू कॉलोनी इन कम्बोडिया, पृ0–43

■

मुंडारी गीतों में जीवन–दर्शन

कुमारी अपर्णा*

लोक–गीत प्रकृति से जन्म लेते हैं। ये मौसम के गीत हैं, पर्व–त्योहारों के गीत हैं, रिश्तों के गीत हैं, वन, पर्वत, नदियों, झरनों और पशुओं के गीत हैं, प्रेम, उत्साह और उमंग के गीत हैं और कुल मिला कर जीवन–दर्शन के गीत हैं। जब लोक गीतों के साथ परम्परागत वाद्य यंत्रों से सुरीला संगीत मुखरित होता है, तब गाने वाले और सुनने वाले के पाँव थिरक उठते हैं और उनका सम्पूर्ण शरीर रसमय हो जाता है। वह एक ऐसी दुनिया में पहुँच जाता है, जहाँ आदमी को मानवता का पाठ सहज मिलता है और वह हर आदमी को बिना भेद–भाव के देखने लगता है। इस प्रकार लोक–गीत समाज को समरस बनाता है और जीवंत रखता है।

जंगल और पहाड़ों के बीच छोटे–छोटे गाँवों में निवास करने वाले जनजातीय मुण्डा समुदायों के बीच जब अखरा (पूजा और नृत्य स्थल) में लोक–गीत गाते हुए, पुरुष बाँसुरी की टेर लगाते हैं, मांदर पर थाप देते हैं, तो झूमर करते युवा और युवतियों के समूह अद्भुत दृश्य प्रस्तुत करते हैं– ऐसा प्रतीत होता है कि गीत और संगीत की धुन पर गोल घेरे में थिरकती युवक–युवतियाँ सुगंधित फूलों की कलियाँ हैं, जो चटक–चटक खिल रही हैं और युवक–युवतियों के घेरे के मध्य एक युवा 'मांदर' या 'नगरा' बजाते हुए अलमस्त भौंरा प्रतीत होता है। नृत्य–संगीत से अखरा जीवंत हो उठता है, और उसके आस–पास के गाँव के स्त्री–पुरुष भी गीत और संगीत से खींचे चले आते और हर रिक्त भूमि को अखरा बना देते हैं। तब सभी गाँव थिरक उठते हैं। कभी–कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि प्रकृति की विशाल गोद में नन्हे–नन्हे प्राकृतिक गाँव नर्तन कर रहे हों!

सन् 1635 ई. में अंग्रेजी में गोंड और 1970 में हिंदी में मुंडारी लोक गीतों के संग्रह प्रकाशित हुए और भारत सहित पूरी दुनिया ने जाना कि उन गीतों में भी जीवन–दर्शन है, जीवन्तता है, मानवीय रिश्तों को कायम रखने की चेतना है और मानवता का सन्देश निहित है। मुंडारी लोक गीतों या 1857 के बाद रचित आधुनिक गीतों में जहाँ आदिवासी जीवन की समस्त मनोदशाओं का चित्र मिल

* संपर्क – कुमारी अपर्णा : वीरघा कॉलोनी, कुमार पैलेस, लोअर करम टोली, लालपुर, रांची–834001, मो.–6203415487

जाता है, वहीं उनकी वैचारिकता की पवित्रता प्रकट होती है। इन लोक गीतों में स्त्री–पुरुष प्रेम और प्रेम में जलते हृदय का चित्रण भी मिलता है और आनन्द का विस्फोट भी अवगुंजित होता है। वन्य जीवन और मौसम के गीत और मौसम का आदमी के मन पर पड़ते प्रभावों का सुन्दर चित्रण होता है।

'जदुर' गीत मुंडाओं का प्राचीनतम वसंत–गीत है, जिसमें प्रकृति और आदमी का सम्बन्ध है, सामाजिक–पारिवारिक सम्बन्ध की सुगंध है, प्रकृति और जीवन दोनों के चारों मौसम का दार्शनिक चित्रण है। प्रस्तुत है, एक जदुर गीत का भावानुवाद जिसमें देश के प्रति प्रेम का भाव भी प्रकृति के रंगों से चित्रित है– (नेते दुड़ नेते जिमिलिलिअ...) 'रजकण यहाँ का स्वर्णिम है,/अपना देश बहुत ही न्यारा/यहाँ की माटी स्वर्णिम है,/कितना मनोहर देश हमारा।' जहाँ फूलों के परागों पर छाए हों ध ूल के सुनहले कण, धरती भी जहाँ की सुनहली हो, वही तो मुंडाओं का प्यारा–न्यारा देश है। उनके मन में अपने देश और उसकी प्रकृति से प्रेम है।

मनुष्य और प्रकृति के बीच साम्यता का यह लोकगीत भी देखें– (सुड़ कान् दरू चिगो अलाकान् बा..) 'नूतन कोंपल से पेड़ सजे/अनगिनत हैं कलियाँ खिलीं/ठूँठ वृक्ष के सम है बुढ़ापा/फूल खिले जवानी खिली/क्या दृश्य देख हे सुंदरी!/तेरी ओष्ठ–पंखुरी खिली?/तुम्हारी मुस्कानें हैं खिलीं।' इस गीत में मनुष्य के जीवन और बुढ़ापे का आकलन किया गया है। यौवन की तुलना कलियों के खिलने और फूल के सौन्दर्य से हुई है और बुढ़ापे की तुलना ठूँठ पेड़ से, जो कभी भी हवा के झोंके से गिर सकता है। जीवन की आने–जाने की अवस्था का चित्रण प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा कर जीवन–दर्शन को यहाँ उपस्थित किया गया है। बुढ़ापे को ठूंठ पेड़ की तरह बता कर जीवन की यात्रा की समाप्ति का दर्शन प्रस्तुत कर, यह चेतना दी गयी है कि हर जीवन इसी तरह बीतता है, चाहे वह जीवन पेड़ का हो या मनुष्य का। मुंडा मनुष्य जीवन को बहुत बेहतर ढंग से परिभाषित करते हैं और बुढ़ापे के दुःख को कितनी संवेदना के साथ उजागर करते हैं– (अंगः सोमए बोले तइ केन् रेदो...) 'समय था जब हाथ हमारे/पीतल के बासन में हम/सरसों का तेल लिए चलते थे/यौवन था जब तक पास हमारे/चिउड़े की पोटली लिए फिरते थे/ढल गया जब समय हमारा/फूट गया पीतल का बासन/यौवन मेरी हवा हो गयी/ पोटली चिथड़ी हुई हमारी।'

माँ अपनी बेटे–बेटियों को प्रकृति की पाठशाला में ले जाती है, उनको वन के फूलों और पेड़–पौधों से प्रेम करना सिखलाती है, फूलों के खिलने का मौसम माँ अपनी संततियों को बताती है। समस्त वन्य वनस्पति मुंडाओं के जीवन से जुड़े होते हैं– (नेअ दोग चिकन् मंदुकम...) 'बे–मौसम ही जो फूल गया/माँ, कैसा है यह महुआ?/क्यों कलियाँ विलम्ब से फूँटीं?/माँ, कैसा है यह 'सखुआ'?'

माँ, अपना अनुभव–ज्ञान उन्हें बताती है। वनस्पतियों की जानकारियाँ देकर, उन्हें वन से, प्रकृति से जोड़ती है, ताकि वे समझें कि वे प्रकृति की संततियाँ हैं– 'बेटा, फगुआ का यह महुआ/पहले फूला, रूप निहारो/बेटा, यह है चौती

सखुआ/मौसम–खेल, देर से फूला।' सन्ततियाँ फूलों पर अपने अनुभव का पहला ज्ञान माँ को बताती हैं– 'माँ, यह महुआ फूला पहले/दिखता बिल्ली के पंजे–सा/साखू कलियाँ लगीं देर से/माँ, दिखतीं पंडुक–ठोर–सा।'

फूलों की शिक्षा के साथ–साथ यहाँ मौसम का भी ज्ञान माँ दे देती है, ताकि वे वन फूलों को देखकर मौसम का भी ज्ञान कर सकें। महुआ और सखुआ जनजातीय जीवन से जुड़े वृक्ष हैं, पूजित हैं और इनका पर्व त्योहारों में बहुत महत्त्व है।

निम्न मुंडारी जदुर लोक–गीत में एक तरुणी राह में मिले हुन्दी और जम्बिर फूलों को अपनी सहेली को दिखलाती हुई कहती है कि वह रास्ते में इन्हें बटोर कर तो ले आई है, लेकिन उसे जूड़े में धारण नहीं करेगी क्योंकि उसका प्रेमी नहीं है– वह एक वियोगिनी है, दुखित है– (होर–होरते सोना हुंदि बा..) 'बहना, देखो हुन्दी के फूल/चमचम करते हैं सोने–सा/बहना, भाग्य मेरा ऐसा/जम्बिर फूल मिला रूपा–सा।' सहेली उसे कहती है कि वह फूलों को अपने जूड़े में सजा ले तो सहेली अपने हृदय की पीड़ा प्रकट करती है– 'बहना, ये फूल न गूथूँगी/ओहो, अपने जूड़े में मैं/न करूँगी गुच्छित फूलों को/मीत नहीं है, वियोगिनी मैं।'

वन की बालाओं के हृदय में सात्विक प्रेम व्याप्त होता है। मुंडाओं में तिलक–दहेज नहीं चलता है, बस प्रेम का प्रस्फुटन ही विवाह का आधार है, मंतव्य है, गंतव्य है। बिना मीत के, जीवन में श्रृंगार किसी युवती के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। वह श्रृंगार तब करती है, जब उसका साथी उसे मिल जाए, और दोनों नृत्य करते हुए अखरा की गीली मिट्टी को धांग देते हैं।

प्रेमी अपनी प्रेमिका की परीक्षा उससे मुँह फुलाकर और तीखा बोल कर करता तो है, लेकिन प्रेमिका की प्रतिक्रिया सुनते ही अपने प्रेम का प्रकटीकरण कर देता है, जैसे उसे इस बात का अनुभव हो गया हो कि उसने अपनी प्रेमिका का दिल दुखाया है– (अलंग दिसुम् रेलंग हर मत लेन...) 'इसी देश में हम पले–बढ़े/प्रिय, साथ–साथ खेले–कूदे/गाँव–डहर साथ–साथ घूमे/प्रिय, अब ऐसी क्या बात हुई/कडुए हुए तुम तीखे कद्दू से/संग–संग मैं चलती तेरे/घृणा दिखती अखियन तेरे।' प्रेमी अपनी प्रेमिका की बात सुनकर अपने दिल की बात करता है– 'चंपा जैसी गंध तुम्हारी/मेरे हृदय आनंद खिला/मैं रुष्ट हुआ प्रिये तो/ और–और तेरा प्रेम खिला।

प्रेम–परीक्षा का यह मधुर लोक–गीत युवा जीवन में प्रेम की झाँकी उपस्थित करता है। यह प्रेम की परीक्षा नहीं है, बल्कि यह एक युवती के मन में प्रेमी के प्रति जो संवेदना और वैचारिकता होती है उसके प्रस्फुटन का सुन्दर उदाहरण है। जदुर गीतों में चारों मौसम हैं, तो जीवन के भी चारों मौसम का दर्शन भी है। यही दर्शन मुंडाओं के जीवन को संचालित करता है और उनको जीवंत बनाता है। मुंडाओं की जीवन–शैली इन्हीं लोकगीतों से आज भी निर्मित होती है। अनुसूचित जातियों में मुंडा जाति के लोग सबसे गंभीर प्रकृति के होते हैं और उनका प्रिय स्थान प्रकृति की गोद होती है। उनके गीतों में जीवन का आदर्श मुखरित होता है, जो अन्य समुदायों के लिए भी अनुकरणीय है। ●

जसिंता केरकेट्टा की कविताओं में
मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति

डॉ ज्योति गौतम*

जसिंता केरकेट्टा की कविताओं में भानवीय संवेदनाओं की अनुभूतियों के स्वर सदैव प्रतिविम्बित होते हैं। उनकी कविताएं जल जंगलए जमीन की वकालत करती हैं। वे समाज की सजग प्रहरी हैं। इसीलिए उनकी रचनाएं सत्ताए अन्ध भक्ति और अंधविश्वास पर कुठाराघात करती नजर आती हैं। उनकी कविताओं में विकास की राह नजर आती है आधुनिक शहरी सभ्यता के सम्पर्क से आदिवासी जीवन शैली में दिखाई देने वाली विरूपताओं की तरफ भी जसिंता केरकेट्टा की नजर गयी हैए जिससे पता चलता है कि विकास का हमला सिर्फ जंगल के संसाधनों और वहाँ के निवासियों के दोहन तक ही सीमित नहीं हैए वह उनके सांस्कृतिक बोध को भी विकृत कर रहा है।

प्रस्तावना – जसिंता केरकट्टा का लेखन प्रगति व सतत् विकास की राह दिखाने वाला है। जैसा कि विदित है। उनका जन्म 1983 में झारखण्ड के पश्चिमी सिंह भूमि जिले के खुदपोस गांव में हुआ। इनका पहला हिन्दी–इंलिश द्विभाषिक काव्य संग्रह ष्अंगोरष् थाए दूसरा काव्य संग्रह हिन्दी.इग्लिश द्विभाषिक ष्जड़ों की जमीनष् थाए उनका तीसरा काव्य संग्रह 'ईश्वर और बाजार' है। ईश्वर और बाजार काव्य–संग्रह झारखण्डए ओड़िशा और छत्तीसगढ़ के सारंडाए नियमगिरि और बैलाडीला पहाड़ के लोगों को समर्पित है। जिन्होंने जंगलए पहाड़ए नदियों को बचाने के लिए लम्बे समय तक संघर्ष किया है। कईयों ने अपने प्राण तक दिये हैंए यह उन सभी अद्‌भुत प्रेमियों को समर्पित हैए जिन्होंने पहाड़ों को बेइंतहा प्यार किया हैए उन्हें बचाने के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी लड़ाई की है।

आदिवासी जन जीवन पर मंडराते सभ्यता.प्रेषित खतरों को पहचाननाए सीधे सरल ढंग से उन्हें शब्दों में अंकित करना और नागर केन्द्रों से जंगलोंण. पहाड़ोंकी तरफ बढ़ते विकास की आक्रामक मुद्राओं का सशक्त प्रतिवाद गढ़ना जसिंता केरकट्टा की कविताओं की विशेषता रही है। उनकी कविताएं अपनी सहज व संवाद परक मुद्रा में आदिवासी समाज की पीढ़ाओं को समग्रता के साथ हम तक पहुंचाती रही है।

* संपर्क – डॉ. ज्योति गौतम : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डॉ शकुन्ताल मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

इन कविताओं में उनके मूल स्वर के साथ कुछ और भी जुड़ा है। संग्रह में संकलित कई कविताएं ऐसी हैं जो शोषण के चालाक षड्यन्त्रों में ईश्वर की अवधारणा और असहाय जनमानस में उनके भय की भूमिका को चिन्हती हैं। भीतर और बाहर की कई जकड़नो में धर्मए ईश्वर और आस्था ने जिस तरह मनुष्य विरोध ी ताकत के रूप में काम किया हैए वह वृहत भारतीय समाज की विडम्बना है लेकिन आदिवासी साधन हीनता पर उनका प्रभाव और भी घातक होता है। ष्मजदूर जब अपने अधिकार के लिए उठे । तो कुछ ईश्वर भक्तों ने उनसे । हाथ जोड़कर प्रार्थना करने को कहाष् और धीरेधीरे हिंसा हमारे लिए। ईश्वर द्वारा ली जा रही परीक्षा वन गई । इस विडम्बना को ये कविताएं हर सम्भव कोण से पकड़ने का प्रयास करती हैं।

जलए जंगल और आदिवासी जीवन से बाहर देश के सामान्य हालात भी इस संग्रह की कविताओं में झॉकते दिखाई देते हैं। सत्ता का तानाशाही मिजाज हो या अपने ही देश की सैनिक ताकत को अपने ही लोगों के खिलाफ स्तेमाल करने की प्रवृत्तिए कुछ भी कवि की निगाह से नहीं चूकती है।

जसिंता केरकेट्टा ने 'ईश्वरए और बाजार' काव्य संग्रह में जो भी रचनाएं सम्मिलित की हैंए वे समाज की पुरानी मान्यताओं जो दमित समाज की शोषक हैं और धर्म की वह पुरानी सोचए जिससे कुछ लोगों का अहित भी सम्भव हो सकता हैए उन सब पर कड़ा प्रहार किया है द्यकेरकेट्टामानवतावादी दर्शन में विश्वास रखती हैं। इसके साथ ही साथ वे सत्ता पर भी प्रहार करतीं नजर आतींहैं 'ईश्वर और बाजार' कविता में वे लिखती हैं – 'लोग ईश्वर ईश्वर को राजा मानते रहें/और राज में ईश्वर को ढूंढते रहे/ राजा ने खुद को एक दिन/ईश्वर का कारिंदा घोषित कर दिया/और प्रजा की सारी सम्पत्ति को/ईश्वर के लिए/भव्य प्रार्थना स्थल बनाने में लगा दिया/उसके नाम पर बाजार सजा दिया।'

'हमारा हिसाव कौने देगा साब? कविता में कवियित्री आवाज उठाती जंगलों को बचाने की और समाज और सरकारों से सीधा प्रश्न करती हैं–

'मन्दिर मस्जिद गिरजाघर टूटने पर/तुम्हारा दर्द कितना गहरा होता है/कि सदियों तक लेते रहते हो उसका हिसाव/पर जंगल जिनका पवित्र स्थल है/उनको उजाड़ने का हिसाबए कौन देगा साब।'

कवियित्री जंगलों को उजाड़े जाने पर आहत हो आगे लिखती हुई कहती है कि– 'जाने कब से धर्मए धर्म खेल रहे/जो तुम्हारे धर्म के दायरे में आते नहीं/वे जंगल को पूजते हैं जंगल को जानते हैं/ वहीं जीते हैं वहीं मर जाते हैं/तुम सब बूट पहनकर/उनके पवित स्थलों में कैसे घुस आते हो/विकास कह कर कितने निर्दोष मारे हैं/उन सब का हिसाब कौन देगा साब?/वे तो जंगल पहाड़ में रहते हैं/वे बनवासी नहीं आदिवासी है।'

वर्तमान समय में वनवासी और आदिवासी शब्द पर बहस छिड़ी हुई है। आदिवासियों का मानना है कि वे मूल निवासी हैं। यह सच भी है कि वे मूल निवासी है।

जैसा की उनकी संस्कृति व सभ्यता से प्रतिविम्बित होता है। आदिवासियों को यह डर सता रहा है कि सरकार उन्हें वनवासी कहना चालू की हैए कहीं ऐसा न हो कि जब जंगल खत्म हो कर दिए जाएं और तो जब वन नहीं तो बनवासी का अस्तित्व स्वयं ही खत्म हो जायेगा। जिससे उनके सारे लाभ मिलने बन्द हो जायेंगेए इसलिए इस मंसा को भांपते हुए स्वयं को आदिवासी कहलाने पर जोर डालते हैं।

जेसिंता केरकेट्टा आदिवासियों को ईश्वर और आडम्बर से दूर रहने की सलाह देती है। उनका मानना है कि इन सभी भावनाओं से मनुष्य नाकारा हो जाता है और अपना कार्य करने की बजाय भगवान भरोसे पर छोड़ देता हैं ष्मैं और मेरा ईश्वरष् कविता में वे कहती हैं। कि 'एक दिन ईश्वर/मेरी आदत में शामिल हो गया/अब मेरी आदत में ईश्वर था/जैसी मेरी आदत में तम्बाकू।'

भगवान भरोसे जो सब कुछ छोड़ देते हैए अपना पुरुषार्थ नहीं करतेए शोषण के विरोध में आवाज नहीं उठाते उनको आइना दिखाते हुए वे आगे उसी कविता में लिखती हैं कि –

'जिस दिन कुछ लोंगों ने मिलकर ईश्वर के हीं घर में/नन्ही बच्ची के साथ दुष्कर्म किया/बच्ची ने दिल से ईश्वर को याद किया/मगर वह मन्दिर के कोने में खड़ा रहा/और दुष्कर्म के बाद आदतन उस दिन भी/लोगों ने सबसे पहले ईश्वर को ही प्रणाम किया।'

कर्मकाण्ड व पूजापाठ में फंसकर जो लोग अपना पूरा जीवन गंवा देते हैंऔर उनके हाथ कुछ नहीं आता ऐसे लोगों को जागृत करती हुई लेखिका अपनी रचना 'पूजाण्स्थल की ओर झांकता देश में लिखती है – 'ऐसा असहाय देश/अपनी बीमारी का इलाज/अगर किसी पूजा स्थल में ढूंढता है/तब उसे अपने ही हाथों/मरने से कौन बचा सकता है।'

वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से प्रेरित यह देश न जाने कैसी अंधी दौड़ मैंष् दौड़ रहा है। पहले छोटेण्बड़े सभी मिलकर काम करते थे और एकता के सूत्र में बंधे हुए थे आज न जाने कैसे लोगो में आपै आप चरे वाली प्रवृति देखने को मिल रही है। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए जसिंता जी कहती है – 'तलवार में तेजी से/तब्दील किये जा रहे हैं आदमी/और धरती से/सारी छोटी सुइयाँ/धीरे–धीरे गायब हो रही हैं।'

जसिंता केरकेट्टा जीवन से जुड़े हर एक पहलू पर अपनी पैनी नजर रखती हैं। वेए सत्ताए सरकारए शोषण के अलावा ष्महिलाओं की समस्याओं पर भी अपनी लेखनीष् की धार को पैना करती नजर आती है। वे लड़कियों पर चर्चा करते हुएष्शोर मचाती लड़कियाँ कविता में लिखती है – 'बहुत बोलती हैं जो बचपन से उन पर फूंक दिया जाता है एक मंत्र/शान्त लड़कियां ही होती हैं सबसे अच्छी'/और वे इस मंत्र के असर से होश सम्भालते ही/सिलने लगती हैं अपना मुंह/छांटने लगती हैं कंकड़ भाषा के सूप से/जलाने लगती है छंट गये शब्दों

को धीरे–धीरे/भीतर कहीं सुलगते चूल्हे में/और घर से निकलने से पहले/डाल देती है अच्छी लड़की वाला दुपट्टा अपने सीने पर।'

प्रस्तुत कविता में कवियित्री यह कहने का प्रयास करती है कि लड़कियों को यदि बचपन से इस प्रकार की परिवरिश न दी जाए तो शायद वे इतनी दबने वाली न बनें। वे भी अपने ऊपर होने वाले शोषण के खिलाफ आवाज उठा सकें।

वे महिलाओं को अपना इतिहास लिखने के लिए सलाह देती नजर आतींहैं ताकि वे समाज में व्याप्त शोषण को उजागर कर सकें । यथा

'जिस दिन पहली बार/मेरी उँगलियों ने घर का चूल्हा सुलगाते हुए/लड़कियों के साथ कलम पकड़ना सीखा/कलम ने धीरे से मेरे कान में कहा/दुनियॉ की हर लड़की को एक दिन/अपनी आत्मकथा जरूर लिखनी चाहिए/कि स्त्रियों की आजादी तय करने/वाले भद्र पुरुषों की कलई अब खुलनी चाहिए।'

वे आगे लिखती हैं कभी–कभी परिस्थतियाँ और उसकी सोच व्यक्ति को इस हद तक बदल देती है कि उसका पूरा व्यक्तित्व ही दिग्भ्रमित सा नजर आने लगता है वे 'महुआ का दोष नहींष् कविता में कुछ ऐसा ही कहती नजर आती हैं'

'महुआ पीकर तुम पहले/प्रेम के गीत गाते थे/कोई कथा सुनाते थे/नाचते थेए थककर सो जाते थे/पर महुआ पीकर अव तुम/हिंसा करते होए हत्यारे हो जाते हो/और सारा दोस महुआ पर डाल देते हो।'

अंन्ततः वे राष्ट्रवादष् कविता को बहुत ही सलीके से परिभाषित कती हुई लिखती है कि 'जब मेरा पड़ोसी/मेरे खून का प्यासा हो गया/मैं समझ गया/राष्ट्रवाद आ गया।'

सच तो यह है कि राष्ट्रवाद एक विशाल कल्पना हैए जिसमें समाज का सम्पूर्ण वर्गए सभी धर्मए समुदाय, सम्प्रदाय समाहित होने चाहिए पर छद्म राष्ट्रवाद वैसा ही है जैसा कवियित्री अपनी कविता में कहती नजर आती है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि जसिंता केरकेट्टा एक ऐसी कवियित्री हैं जो समाज के उन सभी मुद्दों पर अपनी आबाज बुलन्द करती नजर आती है जो समाज को कहीं न तोड़ने की कोशिश करते हैं। केरकेट्टा मानवतावादी लेखन की सजर्ग प्रहरी है जो सच्चाई को अपनी कविताओं में दर्षाने का साहस करती हैं।

संदर्भ सूची :

1. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार ;2023द्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. वैध नरेश कुमार, जनजातीय विकास मिथक एवं यथार्थए रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
3. हसनैन नदीमए जनजातीय भारत, जबाहर पब्लिसर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
4. कुमार एमए आदिवासी, संस्कृति एवं राजनीति, विश्वविद्यालय पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
5. शर्मा विजय शंकर, भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, म0प्र0।

■

अनुवाद

स्थिति और चुनौतियां

विदेशी कवियों के हिंदी अनुवाद

डॉ. साधना अग्रवाल*

एक अनुमान के अनुसार विश्व में लगभग 10 हजार भाषाएं हैं। स्वाभाविक है कि किसी के लिए भी इन सभी भाषाओं को जानना, समझना लगभग असंभव है लेकिन फिर भी एक–दूसरे से संपर्क करना या संवाद स्थापित करना मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता है। अतः कोई ऐसा माध्यम जो आपस में संवाद स्थापित करा सके, तो सबसे पहले अनुवाद का महत्व स्वीकार करना पड़ता है। अनुवाद दो भाषाओं को जोड़ने वाला पुल है। अनुवाद के द्वारा ही हम किसी दूसरे देश, प्रांत के साहित्य, कला, संस्कृति व विज्ञान से परस्पर परिचित हो सकते हैं। अनुवाद दो भाषाओं के बीच संवाद करने का केवल माध्यम भर नहीं है बल्कि एक ऐसी भाषिक गतिविधि है जिसने विश्व के विभिन्न भाषा–भाषियों के बीच भाषा के व्यवधान को हटाकर अर्थ और सम्प्रेषण के प्रभाव को सुगम बनाने में बेहद सफल और सार्थक भूमिका निभाई है। अनुवाद आज विश्वस्तर पर भाषिक संवाद का महत्वपूर्ण आधार बन चुका है। विविध भाषिक समुदायों में आपसी मेलजोल को सहज बनाने में अनुवाद का महत्व लगातार बढ़ रहा है।

वस्तुतः अनुवाद केवल साहित्यकार के क्षेत्रीय, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिवेश से ही परिचित नहीं कराता बल्कि मानव मन की समग्र भावनाओं से भी गहराई से जोड़ता है। अनुवाद का दायरा बहुत विस्तृत है। लेकिन साहित्य के अनुवाद को देश–विदेश में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि साहित्य में सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता का जो तत्व मिलता है, वह दुनिया के किसी भी ज्ञान विचार और दर्शन–जैसी विधाओं में नहीं। सुपरिपित आलोचक डा० नंदकिशोर नवल का कहना है कि 'यदि साहित्य की एक भाषा से दूसरी भाषा में आवाजाही बंद हो जाए, तो मानव संस्कृति की परिधि सिकुड़कर बहुत छोटी हो जाएगी। लेकिन गद्य और कविता के अनुवाद में फर्क है। सर्जनात्मक गद्य का अनुवाद भी कर लिया जा सकता है, लेकिन कविता का अनुवाद प्रायः असंभव प्रतीत होता है। कहना चाहिए, अनुवाद के क्षेत्र में सबसे

* **संपर्क** – डॉ. साधना अग्रवाल : बी2/टी, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज–1, दिल्ली–110091, मो.–9891349058

बड़ी चुनौती कविता की तरफ से आती है। अकारण नहीं कि काव्यानुवाद को ध्यान में रखकर की गई अनुवाद संबंधी कई कटूक्तियां देखने में आती हैं। लोगों का कहना है कि कविता का अनुवाद कुछ वैसा ही होता है, जैसा अपनी प्रेमिका से दुभाषिए के माध्यम से प्रेमालाप करना। यह आम धारणा है कि जब इत्र एक शीशी से दूसरी शीशी में उड़ेला जाएगा, तो उसकी कुछ न कुछ खुशबू उसमें से निकलकर हवा में जरूर मिल जाएगी। कहते हैं, यह खुशबू ही कविता का सारतत्व या प्राणतत्व है।' वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण के लिए 'अनुवाद का मतलब कविता की भाषाई पोशाक को बदलना भर नहीं है, बल्कि उसके उस अंतरंग तक पहुंचना है, जो उसे कविता बनाता है। उनकी शुरू से ही यह शिकायत रही है कि दुनिया का अच्छे से अच्छा अनुवाद भी मूल कविता के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाता। इसके बावजूद अनुवाद का काम कभी किसी भी प्रौढ़ भाषा में रुका नहीं और आज शायद ही दुनिया की कोई भाषा हो, जिसमें उसके अपने साहित्य के साथ–साथ अनूदित साहित्य का भी एक बड़ा भंडार न हो। अनुवादों का इतिहास भी लगभग उतना ही पुराना है, जितना भाषाओं का।

डा० नंदकिशोर नवल लिखते हैं– 'कविता के मुख्यतः तीन प्रकार के अनुवाद प्रसिद्ध हैं– अक्षरानुवाद, भावानुवाद और छायानुवाद। कविता का अक्षरानुवाद संभव नहीं है क्योंकि भाषाओं के अपने अलग मुहावरे होते हैं। इस कारण लाख कोशिश करने पर भी उन्हें हू–ब–हू एक से दूसरी भाषा में नहीं लाया जा सकता। लिहाजा कविता का भावानुवाद ही वांछनीय है, यानी कविता के शब्दों को ठीक–ठीक दूसरी भाषा में लाने का लोभ छोड़ दिया जाए और उसके भाव को यथासंभव दूसरी भाषा में रूपातंरित किया जाए। छायानुवाद में अनुवादक को इससे भी अधिक छूट रहती है। वह मूल कविता के भाव के विपरीत तो नहीं जाता, लेकिन उसकी छाया–भर से सरोकार रखता है। ये सारे अनुवाद छंदोबद्ध रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य संसार के बड़े से बड़े कवियों ने किया है, जिससे उसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है।'

संभवतः सबसे पहले चिली में जन्मे स्पैनिश भाषा के कवि पाब्लो नेरूदा (1904–1973) की अनूदित हिंदी कविताओं के माध्यम से हमें उनकी कविताएं पढ़ने को मिलीं। हालांकि उनकी शुरूआती कविताओं के अनुवाद वरिष्ठ कवि केदारनाथ अग्रवाल ने किए। उनकी प्रसिद्ध कविता 'माच्चुपिच्चु के शिखर' का अनुवाद पहले सोमदत्त ने और बाद में नीलाभ ने किया। दिनेश कुमार शुक्ल ने भी 1989 में 'पाब्लो नेरूदाः चुनी हुई कविताएं' का चयन और अनुवाद किया। लेकिन विधिवत ढंग से पाब्लो नेरूदा को हिंदी पाठकों के उपलब्ध कराने का श्रेय चन्द्रबली सिंह को ही जाता है। उन्होंने 2004 में 'पाब्लो नेरूदा–कविता संचयन' का हिंदी अनुवाद किया। जिसकी भूमिका 'पृथ्वी का कवि पाब्लो नेरूदा' शीर्षक

से सुप्रतिष्ठित आलोचक डा० नामवर सिंह ने लिखी। लिखते हैं– 'शब्द खून में पैदा होता है' जैसा कि नेरूदा ने किसी कविता में कहा है और 'शब्द ही खून को खून और जिन्दगी को जिन्दगी देते हैं। नेरूदा का काव्य संसार दक्षिणी चीले के जंगलों, पहाड़ों और समुद्र के हरे–भरे वातावरण के साथ–साथ मछुवारों, लकड़हारों तथा दूसरे मेहनतकश लोगों से गुंजार है। इस दृष्टि में नेरूदा ठेठ आंचलिक कवि हैं। यह आंचलिकता ही उनकी कविता की जान है। नेरूदा की कविताओं में 'पृथ्वी' का जिक्र अकसर आता है। उनके एक कविता–संग्रह का नाम ही है– 'पृथ्वी पर आवास'। एक कविता है, 'ठहरो, ओ पृथ्वी' फिर एक और कविता है 'तुम में पृथ्वी' शीर्षक से, जिसके अंत की ये दो पंक्तियां मन को गहराई तक छू लेती हैं– 'नापती हैं बमुश्किल मेरी आंखें आकाश के और अधिक विस्तार को और मैं झुकाता हूं अपने आपको तुम्हारे होठों पर पृथ्वी को चूमने।'

कहा जा सकता है कि नेरूदा स्पैनिश के हिंदी में सबसे लोकप्रिय कवि ही नहीं हैं बल्कि अनेक हिंदी लेखकों के प्रिय कवि भी हैं।

विश्व के दूसरे बड़े कवि, जो भारत की धरती पर नेरूदा के आसपास उतरे, वे थे तुर्की के महान क्रांतिकारी कवि नाजिम हिकमत। अनुमानत– 1960 के आसपास नाजिम हिकमत से हिंदी पाठकों का परिचय भी चन्द्रबली सिंह ने करवाया था 'हाथ' शीर्षक से उनकी कुछ कविताओं का अनुवाद करके। बाद में यह परिचय प्रगाढ़ होता चला गया और हिकमत हमारी संवेदना और चेतना का अभिन्न हिस्सा बनते चले गए। 1981 में सोमदत्त द्वारा अनूदित 'नाजिम हिकमत की कविताएं' प्रकाशित हुई। उसके बाद 'पहल' पुस्तिका का जनवरी–फरवरी 1994 का अंक वीरेन डंगवाल द्वारा अनूदित 'नाजिम हिकमत की कविताएं' पर केन्द्रित था। सुरेश सलिल ने बहुत सारी विदेशी कविताओं का अनुवाद करके हिंदी पाठकों को उपकृत किया है। उन्होंने भी 'देखेंगे उजले दिन' शीर्षक से नाजिम हिकमत की कविताओं का अनुवाद किया है। नाजिम हिकमत का 1901 में तुर्की में जन्म हुआ और 1963 में सोवियत रूस में उनकी मृत्यु हुई। क्रांतिकारी कर्म से सम्बद्ध रहने के कारण उनके खिलाफ फौजी मुकदमा दायर किया गया। उन्हें यातनाएं दी गईं। कठोर कारावास की सजा दी गई और तुर्की से उन्हें निष्कासित किया गया और वे मास्को में रहने लगे। नाजिम की कविताओं का विश्वव्यापी भाषांतर हुआ लेकिन उनकी जन्मभूमि तुर्की में उनकी कविता प्रतिबंधित रही। नाजिम देश की आजादी, साहित्य की स्वतंत्रता और भाषा की मुक्ति के लिए कार्य करते रहे। उनकी कविताओं में– 'चिट्ठियां तारंता बाबू के नाम', 'भूख की आंखें', 'पुश्किन चौराहा' और 'मेरा जनाजा' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'मेरा जनाजा' एक बेहद मार्मिक कविता है जिसको यहां मैं पूरा उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूं– 'मेरा जनाजा क्या हमारे आंगन से उठेगा?/तीसरी मंजिल से

कैसे उतारोगे मुझे?/ताबूत अटेगा नहीं लिफ्ट में/और सीढ़ियां निहायत संकरी हैं।/शायद अहाते में घुटनों भर धूप होगी और कबूतर/शायद बर्फ बच्चों के कलरव से भरी हुई/शायद बारिश अपने भीगे तारकोल के साथ/और कूड़ेदान डटे ही होंगे आंगन में हमेशा की तरह/अगर, जैसा कि यहां का दस्तूर है, मुझे रखा गया ट्रक में खुले चेहरे/हो सकता है कोई कबूतर बीट कर दे मेरे माथे/पर यह शुभ संकेत है/बैंड हो या न हो, बच्चे आयेंगे मेरे करीब/उनमें उत्सुकता होती ही है मृतकों के बारे में/हमारी रसोई की खिड़की मुझे जाता हुआ देखेगी/हमारी बालकनी मुझे विदा देगी तार पर सूखते कपड़ों से/इस अहाते में मैं उससे ज्यादा खुश था जितना तुम कभी समझ पाओगे/पड़ोसियो, मैं तुम सबके लिए दीर्घायु की कामना करता हूं!'

मैं खुद को कुछ विदेशी कवियों के अनुवाद तक ही सीमित करना चाहूंगी नहीं तो भटकने और बिखराव की संभावना हो सकती है। संभवतः १९५७ में दिनकर जी ने कुछ विदेशी कवियों के अनुवाद किए थे, जो उनकी पुस्तक 'सीपी और शंख' और 'आत्मा की आंखें' में संकलित हैं। जो बाद में संयुक्त रूप से 'समानांतर' नाम से प्रकाशित हुई, जिसमें पुर्तगीजी, स्पैनिश, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, अमरीकी, चीनी, पोलिश कवियों की कविताएं अनूदित हैं। ये कविताएं अनूदित होते हुए भी नितांत मौलिक प्रतीत होती हैं। कविता के अनुवाद की स्थिति और चुनौतियों पर बात करते हुए यहां मैं महान जर्मन कवि राइनेर मारिया रिल्के की एक कविता का उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करना चाहती हूं। रिल्के की एक ही कविता का अनुवाद तीन लेखकों– दिनकर, अज्ञेय और राजी सेठ ने किया है और उन अनुवाद को पढ़ते आप खुद विचार कीजिए कि कौन लेखक रिल्के के समकक्ष पहुंच जाता है। जो इस प्रकार है–

दिनकर द्वारा किया गया अनुवाद– 'काढ़ लो दोनों नयन मेरे' काढ़ लो दोनों नयन मेरे/तुम्हारी ओर अपलक देखना तब भी न छोड़ूंगा/तुम्हारे पांव की आहट इसी सुख से सुनूंगा/श्रवण के द्वार चाहे बन्द कर दो/चरण भी छीन लो यदि/तुम्हारी ओर यों ही रात–दिन चलता रहूंगा/कथा अपनी तुम्हारे सामने कहना न छोड़ूंगा/भले ही काट लो तुम जीभ, मुझको मूक कर दो/भुजाएं तोड़ कर मेरी भले निर्भुज बना दो/तुम्हें आलिंगनों के पाश में बांधे रहूंगा/हृदय यदि छीन लोगे/उठेंगी धड़कने कुछ और होकर तीव्र मानस में/जला कर आग यदि मस्तिष्क को भी क्षार कर दोगे/रुधिर की वीथियों पर मैं तुम्हें ढोता फिरूंगा।'

अज्ञेय द्वारा किया गया अनुवाद– 'लो निकाल मेरी आंखें, पर तुम्हें देख सकूंगा/मूंद दो कान मेरे, फिर भी मैं तुम्हें सुनूंगा/बिना पैरों के भी तुम तक पहुंचूंगा/और बिना मुंह के तुम्हारा नाम गुनूंगा/तोड़ दो भुज मेरे, गहे तुम्हें रहूंगा फिर भी/अपने हृदय में, मानो कड़ी मुट्ठी में/रोक दो हृदयगति, धड़कन मस्तिष्क

में बहेगी/और मस्तिष्क को फूंक दोगे यदि भट्ठी में/स्पंदन तुम्हारा मेरी रक्त–धार धारे रहेगी।'

राजी सेठ द्वारा किया गया अनुवाद– 'लो निकाल लो मेरी आंखें/मैं तब भी तुम्हें देख सकूंगा/बंद कर दो मेरे कान/तुम्हें सुन सकूंगा/न भी हों पैर/तुम तक पहुंच लूंगा/न रहे जुबान इच्छाशक्ति निवेदन करेगी/तोड़ दो मेरी भुजाएं/जकड़ लूंगा हृदय से/जैसे जकड़ते हैं हाथ/अवरुद्ध कर दो हृदय/धड़कन मस्तिष्क में धपकेगी/ फूंक दोगे मस्तिष्क/रक्तधारा तुम्हें धारण कर लेगी।'

वरिष्ठ कहानीकार और आलोचक विजयमोहन सिंह का मानना था कि रिल्के अत्यंत जटिल, दुरुह और निविड़ एकांत का कवि है जिसे पढ़ना आत्मा की अतल और अथाह गहराइयों में उतरना है, या वह 'नित्य' का नहीं 'अनित्य' का कवि है जहां पहुंचने में बड़ों–बड़ों की सांसे उखड़ जाती हैं।

सन् 1960 में जब धर्मवीर भारती द्वारा अनूदित यूरोपीय व अमेरिकी कविताओं का संकलन 'देशांतर' प्रकाशित हुआ था, तब शायद पहली बार हिंदी साहित्य की दिलचस्पी की एक बड़ी खिड़की बाहर की तरफ खुली थी। इस संकलन में विश्व के 21 देशों के 161 आधुनिक कवियों की कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया था, जो भारतीय ज्ञानपीठ से छपा था, जिसमें अमेरिका के एजरा पाउण्ड, अर्जेण्टाइना के जार्ज लुइस बोरजे, इंगलैंड के रूपर्ट ब्रुक और टी०एस० ईलियट, चिली के पाब्लो नेरूदा, जर्मनी के राइनेर मारिया रिल्के एवं बर्तोल्त ब्रेख्त, तुर्की के नाजिम हिकमत, मैक्सिको के आक्टावियो पाज, स्पेन के फेडेरिको गार्सिया लोर्का, रूस के व्लादीमीर मायकोवस्की और बोरिस पास्तरनाक आदि प्रमुख हैं। जर्मन कवि बर्तोल्त ब्रेख्त भी क्रांतिकारी कवि थे। मोहन थपलियाल ने मूल जर्मन से 71 कविताओं और ३० छोटी कहानियों का ब्रेख्त की जन्मशताब्दी पर हिंदी में अनुवाद किया। इस संकलन में 'जलता हुआ पेड़', 'मेरी मां', 'जनरल तुम्हारा टैंक एक मजबूत वाहन है', 'बुरे वक्त का प्रेमगीत' 'विदाई' जैसी कविताएं हैं।

प्रो० नामवर सिंह के संपादन में उनकी लंबी भूमिका के साथ 'आधुनिक रूसी कविताएं' 1978 में प्रकाशित हुईं, जिसमें अलेक्सान्द्र ब्लोक, बोरीस पस्तेरनाक, मारीना त्स्वेतायेवा, व्लदीमिर मायकोव्स्की आदि कवि शामिल हैं। स्वतंत्र रूप से मारीना त्स्वेतायेवा की कविताओं का अनुवाद वरयाम सिंह ने किया है 'इस बेसहारा वक्त में' शीर्षक से। कहा जा सकता है कि हिंदी में विदेशी कवियों के अनुवाद की जो स्थिति है उसमें कई चुनौतियां हमारे सामने हैं, लेकिन उन चुनौतियों का सामना हमें करना ही होगा और विश्व के कोने अंतरे में झांक कर हमें उन बेशुमार खजाने को तलाश कर पाठकों के सामने लाना होगा।

●

शिक्षा चिंतन

दलित कविता, चिन्तन और अम्बेडकर

डॉ. विनोद कुमार*

'एक पृथ्वी एक परिवार' की परिकल्पना भले ही लोग करने लगें, लेकिन समाज में सदियों से चली आ रही वर्ण, धर्म और सत्ता व्यवस्था के सामने यह यूटोपिया ही है। वैदिक कालीन धार्मिक व्यवस्था ने भारतीय मूल निवासियों को शूद्र बनाया, राजतंत्र ने उन्हें गुलाम बनाया, सामंतवादियों ने उन्हें मजदूर बनाया और बाजार उन्हें बेरोजगार और बेघर कर रहा है। यह व्यवस्था कोई तिलस्मी और ऐयारी नहीं बल्कि सुनियोजित तरीके से चलायी गई व्यवस्था है। इस व्यवस्था के खिलाफ गाहे बगाहे विद्रोही स्वर गूँजते भी आए हैं। यह विरोधी स्वर कभी चिंतन के रूप में तो कभी आंदोलन के रूप में देखे जा सकते हैं। आधुनिक काल में यह विरोधी स्वर साहित्यिक जगत में विमर्श के रूप में स्वीकृत है। विमर्श का केंद्रीय स्वर शोषण और दमन से मुक्ति है। शोषण और दमन का प्रारंभ व्यवस्थित रूप से वैदिक काल से देखने को मिलता है। 'ऋगवेद' में इसका संकेत इस रूप में देख सकते हैं– 'ब्राहाणां वैश्य मुखमासीत वाहू राजन्य कृतः।/उक्रतदस्य यद्देश्यः पदम्यां शूडोजयत।'[1]

अर्थात् ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैरों से शुद्र का जन्म हुआ है। चातुर्य वर्ण व्यवस्था के संबंध में 'श्रीमद्भागवत गीता' में श्रीकृष्ण कहते हैं–

चतुवर्णम मयाकृत्या गुण कर्म स्वभाव–च।'[2]

अर्थात् चतुवर्ण मेरे द्वारा गुण कर्म स्वभावानुसार पैदा किया गया है।

पतंजलि ने 'अष्टध्यायी भाष्य' में दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है। एक अबहिष्कृत और दूसरा बहिष्कृत। अर्थात् सछूत शुद्र तथा अछूत शुद्र। उपर्युक्त धर्म ग्रंथों में मनुष्य के जन्म के सारे सिद्धान्त ईश्वरीय बताए गए हैं। भक्ति काल में ईश्वर की आराधना सर्वाधिक की गई। भक्ति को मुक्ति का मार्ग समझा गया। भक्ति काल को इसलिए आंदोलन भी कहा गया। 'कैसे और क्यों पैदा हुआ यह आंदोलन? साहित्य के इतिहासकारों ने अपने अपने ढंग से इस प्रश्न के उत्तर दिए। जार्ज ग्रियर्सन ने ईसाइयत में इसके उत्स की खोज की तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना को मुख्य कारण माना। आचार्य हजारी

* **संपर्क** – डॉ. विनोद कुमार : प्रोफेसर हिन्दी विभाग, प० बंगाल राज्य विश्वविद्यालय, बारासात, कोलकाता–126 मो.– 9831538245

प्रसाद द्विवेदी ने संपूर्ण भक्ति आंदोलन और साहित्य को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' यानी परंपरा का विकास माना।''[3] इस्लाम साम्राज्य के आगमन के फलस्वरूप वंचित और उपेक्षित लोगों को भक्ति में प्रवेश की थोड़ी छूट मिली। सांस्कृतिक माध्यम से राजनीतिक कारण भले ही क्यों न हो। भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो दलित मुक्ति का प्रथम चरण बौद्ध काल था। बौद्ध दर्शन में ईश्वर की सत्ता को खारिज किया गया और वर्ण व्यवस्था के स्थान पर समानता का प्रतिपादन किया। यही बुद्ध का समतामूलक समाज और सूफी का प्रेम संतों को विरासत के रूप में मिली। संत साहित्य दलित जागरण का साहित्य है। संतों ने वर्ण व्यवस्था का विरोध किया। कबीर ने वर्णव्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होने मानव समाज में भेद पैदा करने वाली सभी अवधारणाओं का खण्डन किया। वे कहते हैं– 'एक बूँद एक मल मूतर एक नाम एक गूदा।/एक जोति तै सब ऊपजा कौन ब्राह्मन कौन सूदा ।'[4]

वे वैज्ञानिक ढंग से तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रकृति ने सबकी सृष्टि एक ही तरह से की है फिर ब्राह्मण और शूद्र में भेद क्यो? अर्थात् कबीर मानव निर्मित जाति व्यवस्था का विरोध करते हैं। वे फिर कहते है कि– 'जो तू बामन बंमनी जाया तौ आन बाट है क्यो नहि आया।/जो तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतर खतना क्यो न कराया।'[5]

वर्ण व्यवस्था के विरोध में संत रविदास बहुत सहज भाव से कहते हैं कि 'जाति कमिनी पाति कमिनी, ओछा जनम हमारा' अर्थात् दुनिया में मैंने जाति ही कमाया तात्पर्य कि हिन्दू समाज व्यवस्था इतनी आडम्बरी है कि मनुष्य के गुण और वर्ग से ऊपर जाति है। वे ईश्वरीय सत्ता को भी चुनौती देते हुए कहते हैं कि–

प्रभु जी, तुम–चन्दन हम पानी, जाकि अंग–अंग बास समानी
प्रभु जी, तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवन– चंद–चकोरा
प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।'[6]

अर्थात् रैदास कहते हैं कि अगर ईश्वर चन्दन है तो हम उनकी सुगन्ध ा हैं। अगर ईश्वर धन हैं तो हम मोर हैं, अगर ईश्वर दीपक है तो हम बाती हैं। चन्दन का अकेले कोई महत्व नहीं है, उसकी सुगन्ध के कारण ही वह विशिष्ट है। उसी तरह दीपक अकेले प्रकाश नहीं फैला सकता उसे बाती की आवश्यकता पड़ती ही है। तात्पर्य कि अगर ईश्वर की सता है तो मानव की भी अपनी सता है। बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यही संदेश समतामूलक समाज व्यवस्था के लिए भी है।

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल दलित जागरण का तीसरे चरण के रूप में देखा जा सकता है। इस काल में हिन्दी दलित कविता दो भागों में उभर कर आती है। इस सन्दर्भ में कंवल भारती कहते हैं यह कहना ठीक होगा कि समाज और कविता लगभग अलग– अलग चल रहे थे। जो समाज में था वह कविता में नहीं था और जो कविता में था, वह समाज में नहीं था। यदि साहित्य समाज का दर्पण है, तो उस काल

के साहित्य में समाज लगभग अनुपस्थित था।'[7] जिस वाङ्मय की परंपरा पर गर्व किया जाता है उस वाङ्मय में दलितों के लिए कोई संवेदना नहीं थी। इसलिए हीरा डोम हिंदू धर्म शास्त्रों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। वे कहते हैं–

खभवा के फारि प्रहलाद के वचकुले जा, ग्राह के मुहे से गजराज के वचवले।
धोती जुरजोधना कै मइया छोरत रहै, परगट होके तहाँ कपड़ा लडवले।
मरले खनवा के पलले ममिखना के, कानी अगुरी पै धैके पथरा उठवले ।
कन्हवा सुतल वाटे सुनत न वाटे अब, डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।'[8]

हीरा डोम अवतारवाद का विरोध करते हैं क्योंकि ईश्वर का कोई भी अवतार दलितों की मुक्ति नहीं कर सकते। ऐसा लगता है मानो ईश्वर भी स्वार्थी है, वह भी चुन–चुनकर भक्तों की मुक्ति करता है। अछूतानंद 'हरिहर' मनुस्मृति का विरोध करते हुए कहते हैं–

'निसदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है। ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।। हमको बिना मजूरी, बैलों के संग जोते, गाली व मार उस पर हमको दिला रही है।
लेते बेगार खाना तक पेट भर न देते बच्चे तड़पते भूखे, क्या जुल्म ढा रही है।'[9]

आधुनिक काल से पूर्व दलितों की समस्या धर्म के माध्यम से साहित्य में अभिव्यक्त हुई है और आधुनिक काल में दलितों की समस्या सामाजिक यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। आत्मकथा विधा ने दलित साहित्य को अधिक दृढ़ और विश्वसनीय बनाया। इन्होंने साहित्यिक पुस्तको को हथियार की तरह इस्तेमाल किया। शरण कुमार लिंबाले एक साक्षात्कार में कहते हैं 'दलित लेखक को निर्भीक और निर्लज्ज होना चाहिए।'[10] दलित लेखकों ने अपने भोगे हुए यथार्थ को ही साहित्य में व्यक्त किया। भोगा हुआ यथार्थ ही दलित साहित्य का सौन्दर्य एवं प्राण तत्व है। इस साहित्य का सौन्दर्य, वैचारिकता और दार्शनिकता 'डॉ० भीम राव अम्बेडकर का जीवन संघर्ष एवं ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है। सभी दलित रचनाकार इस बिंदु पर एकमत है कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामन्ती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था।'[11] इसी सदर्भ में डा शरण कुमार लिबाले कहते है–'बाबा साहेब की जीवनगाथा, उनका कार्य और वाणी तथा उनके अमूल्य विचारों से दलित समाज, दलित आंदोलन और दलित लेखक जागृत हुआ, इसीलिए बाबा साहेब अम्बेडकर ही दलित साहित्य की सच्ची प्रेरणा है।'[12] दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत अम्बेडकर है।

उनका संघर्ष, श्रम और विचार दलित साहित्य का मूल आधार है। उनका जीवन दलितों और वंचितों को श्रम और संगठन का संदेश देता है। अम्बेडकर को किसी एक परिधि में बांध कर विचार करना उनके व्यक्तित्व को संकुचित करना

होगा क्योंकि उन्होंने समाज के सभी शोषितों की वकालत की और समाज में सबके लिए सुरक्षित जगह होना सुनिश्चित किया। समकालीन दलित साहित्य में अम्बेडकर का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। उदाहरण स्वरूप ओम प्रकाश वाल्मीकि की प्रसिद्ध कविता 'ठाकुर का कुआँ' में अम्बेडकरवादी चिन्तन का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है–

'कुओं ठाकुर का/पानी ठाकुर का/खेत–खलिहान ठाकुर के/गली–मुहल्ले ठाकुर के/फिर अपना क्या ?/गांव?/शहर?/देश?'[13]

स्वाधीनता आंदोलन के समय गाँधी और अम्बेडकर दो बड़े नेता हुए। दोनो राष्ट्र की मुक्ति सामाजिक मुक्ति के आधार पर चाहते थे। लेकिन दोनों की विचारध ारा में फर्क था। गाँधी ने दलितो की मुक्ति के लिए ईश्वरीय सता को स्वीकार किया। गाँधी ने दलितों को श्हरिजनश कहकर संबोधित किया। समाज में जागरण के लिए उन्होंने हरिजन पत्रिका भी निकाला। इससे ही पता चलता है कि वे हिन्दू धर्म दर्शन के आधार पर ही दलितो की मुक्ति चाहते थे। जबकि अंबेडकर ईश्वरीय सत्ता को दलितों के का मुख्य कारण मानते थे। अम्बेडकर अपने समय पर लिखे व्यक्ति थे और तर्क के आधार पर यथार्थ का समर्थन करते थे। इनके जीवन दर्शन का आधार बौद्ध दर्शन था। वे मार्क्सवाद से भी प्रभावित थे। बौद्ध दर्शन यथार्थ और अनुभव पर आधारित दर्शन है। दुख और दुख के कारणों और उसके निवारण के तथ्यों का विश्लेषण ही इसका मुख्य आधार था। आधुनिक कवि सूरजपाल चौहान की कविता 'भीमराव का दलित नहीं यह गाँधी का हरिजन है' के आधार पर गाँधी और अम्बेडकर की विचारधारा के फर्क को समझा जा सकता है –

'रोज सवेरे मन्दिर जाता/रखता है मंगल उपवास/शनिदेव की करे अर्चना/बेटा इसका रामनिवास/जय जगदीश हरे आंगन में/घर में इसके कीर्तन है/भीमराव का दलित नहीं यह/गान्धीजी का हरिजन है।'[14]

दलित समाज का एक पक्ष अज्ञानतावश मनुवादी व्यवस्था का पोषक है। यह कविता के शीर्षक से ही ध्वनित हो जाता है। दूसरा पक्ष बुद्ध और अम्बेडकर को अपने विचारों का आदर्श स्वीकार करता है तथा अपना मार्गदर्शक मानता है।

'इसलिए बाबा साहब कह गए बार–बार/जुल्म करने वाले से सहने वाला ज्यादा है गुनहगार/मुझे मेरे पढे लिखो ने/धोका दिया रात दिन है/भीमराव का 'बौद्ध' नहीं वे/हिन्दू दलित/हरिजन है।'[15]

निष्कर्षत : दलित साहित्य मानव मुक्ति का, सामाजिक प्रतिबद्धता का और समाजिक–सास्कृतिक परिवर्तन का साहित्य है। इसीलिए दलित साहित्य को जीवन वादी साहित्य भी कहा जाता है। यह समतामूलक विचार और दर्शन पर आधारित है। इस साहित्य को पुष्ट करन में बुद्ध, कबीर, रैदास, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले और अम्बेडकर के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। दलित समाज, साहित्य और इतिहास इनके ऋणी रहेगे। कह सकते हैं कि वर्तमान हिंदी कविता में दलित चितन का जो स्वरुप उभरकर आ रहा है इन महापुरुषों की देन हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची :

1. Link bccomim.mp.gov.in
2. Link – वही
3. भक्ति आंदोलन सामाजिक आधार सं. गोपेश्वर सिंह, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ–5
4. कबीर – सं. विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण आवृत्ति–2000, पृष्ठ – 246
5. वही, पृष्ठ–246
6. Link - https://images.app.goo.gl/4konkf8jnXrLQDc8
7. दलित निर्वाचित कविताएं सं. कंवल भारती, साहित्य उपक्रम, पुनर्मुद्रण – फरवरी 2012, पृष्ठ–13
8. वही, पृष्ठ – 13
9. वही, पृष्ठ – 15
10. उत्तर प्रदेश – दलित साहित्य विशेषांक, वर्ष 30, अंक 1, पृष्ठ–158
11. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति 2011, पृष्ठ–53
12. दलित साहित्य का सौदर्यशास्त्र डॉ. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, आवृति –2020, पृष्ठ–56
13. दलित निर्वाचित कविताएं, संपादक कंवल भारती, पुनर्मुद्रण 2012, पृष्ठ–56
14. Link kavitakosh.org
15. वही

■

मेंटर टीचर कार्यक्रम

शिक्षक की नजर से

प्रीति*

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2020 के पैरा 15.11 में उत्कृष्ट पेशेवरों का एक बड़ा पूल स्थापित करके एक ज्ञान प्रणाली को विकसित करने की बात कही गई है जो शिक्षकों को अल्पकालिक और दीर्घकालिक पेशेवर सहायता प्रदान करने के लिए तैयार होंगे। इसके लिए एनई पी 2020 में नेशनल मिशन फॉर मेंटरिंग (एनएमएम) का उल्लेख किया गया है जिसका लक्ष्य उन उच्च कुशल विशेषज्ञों का एक बड़ा समूह स्थापित करना है जो शिक्षकों को मार्गदर्शन और सहायता प्रदान करने के इच्छुक हैं, जिससे शिक्षकों की निरंतर व्यावसायिक वृद्धि सुनिश्चित हो सके। इन संभावित मार्गदर्शकों की भूमिका महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये मार्गदर्शक 21वीं सदी में हमारे देश के विकासात्मक उद्देश्यों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। दिल्ली में स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने और शिक्षकों के विकास को समर्थन देने के निरंतर प्रयास में ऐसी ही एक परिवर्तनकारी पहल 2016 में की गई जिसमें दिल्ली सरकारने 'मेंटर टीचर प्रोग्राम' का आयोजन किया, जिसके अंतर्गत आज भी लगभग 250 शिक्षक, मेंटर शिक्षक की भूमिका निभा रहे हैं।

इस कार्यक्रम की शुरुआत 7 अप्रैल 2016 को की गई थी। इस प्रोग्राम को शुरु करने के लिए पूर्व शिक्षामंत्री मनीष सिसोदिया ने शिक्षकों को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की थी कि शिक्षक स्वैच्छिक रूप से 'मेंटर टीचर' कार्यक्रम में शामिल हों। शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के सभी (टीजीटी) शिक्षकों (टीजीटी) को यह पत्र भेजा गया और उनसे इस कार्यक्रम के लिए आवेदन करने के लिए कहा गया। इस प्रोग्राम के प्रथम चरण में, शिक्षा निदेशालय ने 200 शिक्षकों का चयन किया जिन्होंने अन्य स्कूलों में अपने सहयोगियों के लिए 'मार्गदर्शक शिक्षक; क`रूप में काय ́किया और आनेवाले दो सालों के लिए ये मार्गदर्शक शिक्षक, अपने विद्यालय को छोड़कर अन्य विद्यालयों की गुणवत्ता में सुधार करने में लग गए। मार्गदर्शक शिक्षकों को 2 साल के लंबे कार्यकाल के लिए चुना गया था लेकिन ज्यादातर मार्गदर्शक शिक्षकों का कार्यकाल बढ़ा दिया गया।

संपर्क – प्रीति : रिसर्च स्कॉलर, शिक्षक प्रशिक्षण और अनौपचारिक शिक्षा–विभाग (आईएएसई) शिक्षासंकाय, जामियामिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली।

प्रत्येक मार्गदर्शक शिक्षक को पांच–छह स्कूलों का प्रबंधन सौंपा गया, जिनका उन्हें नियमित रूप से दौरा करना होता है और वहां शिक्षकों से मिलना होता है।

शिक्षा सचिव पुण्य सलिला श्रीवास्तव ने इस प्रोग्राम के शुरु करने के कारण को स्पष्ट करतेहुए कहा कि उन्हें प्रतिबद्ध लोगों के एक नेटवर्क की आवश्यकता है जो सिस्टम को बेहतरी के लिए बदल सकें और साथ ही, अन्य शिक्षक हमारी (नौकरशाहों) की तुलन ामे ंउनकी बात सुनने के लिए अधिक इच्छुक होंगे क्योंकि ये एक ही प्रणाली से हैं और समान मुद्दों को संभालते हैं। श्रीवास्तव जी ने उल्लेख किया कि यह उनके लिए एक चुनौती है कि जो लोग मार्गदर्शक शिक्षक के रूप में चुने जाते हैं उनका योगदान इतना महत्वपूर्ण होना चाहिए कि 'उन सैकड़ों बच्चों को वंचित करने को उचित ठहराया जा सके जिनके जीवन पर वे अपनी कक्षाओं में प्रभाव डालते हैं।'

मार्गदर्शक शिक्षक की चयन प्रक्रिया कठोर है, जहां ऐसे शिक्षकों की खोज की जाती है जो सभी छात्रों की व्यक्तिगत सीखने की जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है ंऔर दूसरों को इन गुणोंके विकास में मदद कर सकते हैं। आवेदकों को दिन भर की कठोर चयन प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है जैसे– व्यक्तित्व परीक्षण, एक्सटेम्पोर, व्यक्तिगत साक्षात्कार, मनोविश्लेषण परीक्षण और समूह चर्चा। इसके अलावा, मार्गदर्शक शिक्षक को इस महत्वपूर्ण भूमिका में सेवा करने के लिए समय और प्रतिबद्धता भी होनी चाहिए। इस चयन प्रक्रिया में उम्मीदवारों से कक्षा में उनके द्वारा अपनाई गई किसी भी नई पद्धति का वर्णन करने के लिए कहा गया। उदाहरणस्वरूप, ज्योति लाकड़ा ने अपने मुंडका स्कूल में छात्रों को अंग्रेजी सीखने में रुचि जगाने के लिए कक्षा में 'स्पीकिंगपेन' का उपयोग किया था – यह जिस भी पाठ को छूएगा, उसे पढ़ लेगा, जिससे पाठ्यक्रम के 'बोलने और सुनने के मूल्यांकन' घटक में महत्वपूर्ण उपलब्धि हुई है।

संक्षेप में, दिल्ली मे 'मेंटर शिक्षक कार्यक्रम' को विभाग के भीतर से, आंतरिक रूप से प्रेरित और भावुक शिक्षकों का एक संसाधन पूल बनाने के लिए, सीखने साझा करने और सहयोग की संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए डिजाइन किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सिस्टम के भीतर से, सिस्टम के लिए प्रतिबद्ध शिक्षकों का एक नेटवर्क तैयार करना है, जो सिस्टम को बेहतरी के लिए बदल सकता है और शिक्षकों को शैक्षणिक सहायता प्रदान कर, सहयोग और निरंतर सीखने की संस्कृति को बढ़ावा देकर, स्कूली शिक्षा से संबंधित विषयों पर अनुसंधान को बढ़ावा देता है।

अनुसंधान दर्शाते हैं कि प्रभावी परामर्श कार्यक्रम शिक्षक प्रतिधारण दर, नौकरी से जुड़ी संतुष्टि और समग्र शिक्षण गुणवत्ता पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं। जिन शिक्षकों को परामर्श समर्थन प्राप्त होता है, उनके पेशे में बने रहने, अपनी क्षमताओं में अधिक आत्मविश्वास महसूस करने और अपनी शिक्षण प्रथाओं में लगातार सुधार करने की अधिक संभावना होती है। इसलिए इस कार्यक्रम में क्षमता निर्माण कार्यशाला का आयोजन किया जाता है जिसके अंतर्गत, शिक्षकों

के लिए नियमित अंतर्क्रियाएं और चर्चा सत्र आयोजित किए जात`हैं, जिनमें कुछ मुख्य कार्यक्रम हैं – जीवन विद्या शिविर, क्लस्टर लीडरशिप डेवेलपमेंट प्रोग्राम (सी. एल. डी. पी.), डिस्ट्रिक्ट प्रोग्रेस चेक मीटिंग (डी. पी. सी. एम.), राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय प्रशिक्षण आदि।

मार्गदर्शक शिक्षक के उत्तरदायित्व – दिल्ली सरकार के सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों को बेहतर मार्गदर्शन प्रदान करने के उद्देश्य से शिक्षाविभाग ने 'मेंटर टीचर प्रोग्राम' की शुरुआत की थी, जिसके अंतर्गत मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों को स्कूल प्रक्रियाओं और दिल्ली सरकार की नीतियों से परिचित कराते हैं। मार्गदर्शक शिक्षक अनुसधान–आधारित सर्वोत्तम प्रथाओं को बढ़ावा देकर, यह सुनिश्चित करते हैं कि शिक्षक शिक्षा में नवीनतम प्रगति के लिए उन्नत रहें। इसके लिए मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों के साथ विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों को साझा करतेहैं और उन्हें सामग्री ज्ञान, शैक्षणिक सिद्धांत, और शिक्षण विधियों में मजबूत निर्देशन प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

मार्गदर्शक शिक्षकों के पास शिक्षकों के साथ काम करने का वास्तविक अनुभव होता है, जिसमें सभी उतार–चढ़ाव, अच्छे दिन और बुरे दिन शामिल होते हैं, और विशेष रूप से उपलब्धि की भावना जो छात्रों के साथ गहरे जुड़ाव का हिस्सा है। इस आधार पर, मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों का पथ प्रदर्शित करते हैं। एक मार्गदर्शक शिक्षक के द्वारा शिक्षकों को कक्षाओं में हुए शोध, सिद्धांत, और सर्वोत्तम प्रथाओं को लागू करने के लिए कई अवसर मिलते हैं। मार्गदर्शक शिक्षक सभी शिक्षकों में पेशेवर प्रभावकारिता, सभी छात्रों के लिए उच्चमान कों के प्रति प्रतिबद्धता और एक अच्छे शिक्षक की मानसिक आदतों को विकसित करने में मदद करते हैं, जिसमें चिंतनशील अभ्यास, निरंतर सुधार और आजीवन सीखने की आदतें शामिल हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर (टी. डी. सी) और शिक्षकों को प्रश्न पूछने, स्वयं सोचने, अपनी कक्षा और शिक्षण के अनुभव साझा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वे अन्य शिक्षकों से सुझाव प्राप्त करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों को उनकी कक्षा और शिक्षण संबंधी जिम्मेदारियों के लिए सुदृढ़ करते हैं। इस कार्य में शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर, मार्गदर्शक शिक्षक की मदद करते हैं। शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर अपने विद्यालय के शिक्षकों पर व्यक्तिगत ध्यान देने के लिए समृद्ध निर्देश और अवसर प्रदान करने में सहयोगात्मक और उत्पादक रूप से सहायक होते हैं। मार्गदर्शक शिक्षक और शिक्षक डेवेलपमेंट को ऑर्डिनेटर के साथ वार्ता कर के शिक्षकों को उनके अभ्यास में अंतर्दृष्टि प्राप्त करने में मदद मिलती है और शिक्षक उन तरीकों से जुड़ते हैं जो उनके द्वारा हासिल की गई उपलब्धियों से अधिक हासिल करने के लिए सक्षम बनाते हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक और शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर का मिलकर काम करना, शिक्षकों को लघु और दीर्घकालिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होता

है, ये मिलकर विश्लेषण करतेहैं कि क्या काम करना है और क्या नहीं, और क्यों, और अनुभव पर प्रतिबिंबित करने और सीखने की क्षमता को विकसित करते हैं। मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों द्वारा सीखी गई सफल रणनीतियों और तरीकों को दूसरे शिक्षकों के साथ साझा कर उन्हें भी इन रणनीतियों और तरीकों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं जिससे अन्य अध्यापक शायद परिचित न हों। मार्गदर्शक शिक्षक कभी–कभी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया देते हैं लेकिन पेशेवर विकास को प्रोत्साहित कर प्रशंसा भी करते हैं।

जब मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर (टी. डी. सी) और शिक्षक के बीच सहयोग अच्छा होता है, तो छात्रों को सबसे अधिक लाभ होता है। आइए इसे एक मॉडल से समझते हैं कि यह सब कैसे होता है?

शिक्षक कक्षा में निम्नलिखित प्रविष्टियाँ करते हैं–

नवीनतम अनुसंधान और सर्वश्रेष्ठ प्रथाएँ

प्रौद्योगिकी–आधारित संसाधनों का परिचय

छोटे समूहों व्यक्तिगत छात्रों के साथ काम करने की क्षमता

व्यक्तिगत सामग्री में विशेषज्ञता

शिक्षार्थियों को प्रेरित करने की भावना

मार्गदर्शक शिक्षक निम्नलिखित प्रदान करते हैं–

शिक्षकों के लिए शिक्षण योजनाएँ

शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण सत्र आयोजित करना

शिक्षकों को उनके संबंधित स्कूलों में नियमित रूप से सहायता

एस सी ई आर टी, दिल्ली और शिक्षा निदेशालय, दिल्ली की सभी पहलों का उसकी वास्तविक भावना से कार्यान्वयन के लिए आवश्यक समर्थन

विद्यालय रूपी संस्था व छात्रों का व्यापक ज्ञान

शैक्षणिक मामलों में स्कूल प्रमुखों को समर्थन

प्रभावी सहयोग मॉडल : शिक्षक छोटे समूहों और व्यक्तिगत छात्रों के साथ काम करके कक्षा में मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर के साथ मिलकर शिक्षकों को मार्गदर्शन प्रदान करते हैं, जिससे निर्देश को स्पष्ट करने में मदद मिलती है।

शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर और शिक्षक जिन्हें विभिन्न कार्य भार दिए गए हैं (हैप्पीनेस कोऑर्डिनेटर, ईएमसी कोऑर्डिनेटर, स्पोकन इंग्लिश प्रोजेक्ट कोऑर्डिनेटर, देश भक्ति कोऑर्डिनेटर आदि) अपने–अपने क्षेत्र के लिए जिम्मेदारी लेते हैं। शिक्षक समय के साथ छात्र समूहों के साथ काम करता है। मार्गदर्शक शिक्षक और शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर उन्हें नई दिशा प्रदान करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप छात्रों के सीखने के परिणामों में सुधार होता है।

मार्गदर्शक शिक्षक एससीईआरटी, दिल्ली में विशेष सामग्री तैयार करने में सहायक होत`हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर और शिक्षक एक–दूसरे की कक्षा का अवलोकन करतेहैं, एक–दूसरे को प्रतिक्रिया प्रदान करते हैं व विचार साझा करते हुए एक दूसरे से सीखते हैं। इस प्रकार अवलोकनों और फीडबैक सत्रों के माध्यम से, साथियों से सीखने की संस्कृति का निर्माण किया जाता है जिससे सामूहिक विकास की मानसिकता बनती है।

मार्गदर्शक शिक्षक, और शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर, लर्निंग इंप्रूवमेंट साइकिल (एल. आई. सी.) पर सहयोगी योजना बनाते हैं जिसका क्रियान्वन अकादमिक रिसोर्स टीम (ए. आर. टी) बैठक में होता है। बैठक के दौरान शैक्षणिक चुनौतियों पर चर्चा करते हैं और चुनौतियों का समाधान ढूँढने की कोशिश करते हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर और शिक्षक अपने संसाधनों को एकत्र करते हैं और मिलकर सोचते हैं कि व्यक्तिगत छात्रों की सहायता कैसे की जा सकती है।

क्लस्टर लीडरशिप डेवलपमेंट प्रोग्राम (सी. एल. डी. पी) बैठक के दौरान क्लस्टर के विद्यालय प्रमुख विद्यालय संबंधी चुनौतियों पर चर्चा करते हैं और चुनौतियों के लिए क्लस्टर स्तर पर समाधान ढूँढने की कोशिश करते हैं।

शिक्षकों के अनुसार 'मार्गदर्श कशिक्षक' की विशिष्ट जिम्मेदारियाँ इस प्रकार हैं–

1.शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर(टी. डी. सी) और शिक्षकों को सहयोगियों की विशेषज्ञता से लाभान्वित होने के लिए प्रोत्साहित करना।

2.शिक्षकों को निम्नलिखित के बारे में प्रासंगिक जानकारी प्रदान करना–

(i) स्कूल मिशन, छात्र, समुदाय, विशेष कार्यक्रम और दैनिक कार्यक्रम।

(ii) भौतिक संसाधन, जिसमें विशिष्ट संसाधनों का स्थान और उपयोग शामिल है (जैसे कि पुस्तकालय, कंप्यूटर, दृश्य–श्रव्य सामग्री, सुविधाएं, आदि)।

(iii) स्कूल के नियम, विनियम, अनुशासन नीतियां, पेशेवर मानक, और स्वास्थ्य और सुरक्षा नीतियां।

(iv) कक्षा के नियम और प्रक्रियाएँ।

(v) शिक्षकों को कक्षा प्रबंधन प्रक्रियाओं, कक्षा नियमों और नीतियों से परिचित करवाना। कक्षा के नियमों और नीतियों पर चर्चा करना।

(vi) शिक्षक को उन सभी पत्रों, रिपोर्टों आदि से परिचित करवाना, जिन्हें जानना शिक्षकों के लिए आवश्यक हैं।

(vii) पाठ्यक्रम, उपलब्ध शिक्षण सामग्री और योजना के बारे में जानकारी साझा करना। शिक्षक के साथ लंबी अवधि की पाठ्यक्रम योजनाओं पर चर्चा करना, पाठ, मैनुअल और मीडिया संसाधनों की प्रतियों की समीक्षा करना। शिक्षक द्वारा विकसित किए जाने वाले पाठों या पाठ श्रृंखला के विषय और सामान्य सामग्री के लिए सुझाव और दिशा निर्देश प्रदान करना।

3.एक उच्च गुणवत्ता वाले मॉडल को तैयार करने के लिए, महत्वपूर्ण मार्गदर्शक के रूप में, समकालीन अनुसंधान और उत्कृष्टता के मानकों के अनुसार शिक्षण विधियों का प्रदर्शन करना।

4.व्यक्तिगत छात्रों की अनूठी और प्रासंगिक विशेषताओं पर चर्चा करना, जिसमे व्यवहार संबंधी समस्याओं में मध्यस्थता के लिए प्रभावी रणनीतियाँ और इन छात्रों की जरूरतों को पूरा करने के लिए अलग–अलग निर्देश शामिल हैं।

5.अपने प्रशिक्षित विद्यालयों के लिए शिक्षा सधार कार्यक्रम की योजना बनाना, उसका क्रियान्वन कर उनकी समीक्षा करना व उस पर आधारित प्रतिक्रिया देना।

6.लर्निंग इंप्रूवमेंट साइकिल (एल. आई. सी.) पर आधारित विशिष्ट शिक्षण जिम्मेदारियों के लिए शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर के साथ योजना बनाना। लर्निंग इंप्रूवमेंट साइकिल की समीक्षा करना और उस पर आधारित प्रतिक्रिया देना।

7.शिक्षकों को विद्यालय से संबंधित सभी व्यवसायिक गतिविधियों, जैसे कि स्टाफ मीटिंग, व्यक्तिगत शिक्षा योजना बैठकें, और पेशेवर विकास कार्यशालाओं में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना। शिक्षकों की अलग सोच और प्रयासों को पहचान कर और उन्हें सम्मानित करके सराहना की संस्कृति विकसित करना।

8.शिक्षकों के पेशेवर अभ्यास की ओर अग्रसर करना, उन्हें विशिष्ट प्रतिक्रिया देकर उनका मार्गदर्शन करना। मार्गदर्शक शिक्षक को सकारात्मक सुदृढ़ीकरण और विशिष्ट प्रतिक्रिया दोनों प्रदान करना चाहिए, जिसमें जहां उपयुक्त हो, वैकल्पिक दृष्टिकोण के लिए सुझाव भी शामिल हों। रचनात्मक आलोचना को पेशेवर तरीके से और निजी तौर पर की जानी चाहिए।

9.शिक्षकों को अपने और छात्रों के प्रदर्शन पर विचार करने के लिए प्रोत्स ाहित करना। उन्हें सलाह मांगने में सहज महसूस करने के लिए नियमित रूपसे अवसर प्रदान करना। फैकल्टी मीटिंग्स के माध्यम से विषय–विशिष्ट समूहों को संगठित कर के उनके प्रगति पर विचार करने और चर्चा करने की व्यवस्था करना।

मेंटर टीचर कार्यक्रम, शिक्षकों को शिक्षा में उत्कृष्टता और नवाचार की संस्कृति को बढ़ावा देने, परिवर्तन के लिए उत्प्रेरक बनने के लिए सशक्त बनाता है। इसके माध्यम से शिक्षकों को उनकी शिक्षण प्रथाओं और कक्षा में समग्र प्रभावशीलता को बढ़ाने में मदद मिली है। कुछ शिक्षक, मार्गदर्शक शिक्षक को शिक्षक के गुरु के रूप में और शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर को शिक्षक के प्रशिक्षक के रूप में वर्णित करते हैं। अनुसंधान और वास्तविक साक्षात्कार दोनों इसे साबित करते हैं कि मार्गदर्शक शिक्षक, एक शैक्षणिक सलाहकार के रूप में कार्य करते हैं और जब भी संभव होता है, मार्गदर्शक शिक्षक, शिक्षकों को नई रणनीतियों का परीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और शिक्षक डेवेलपमेंट कोऑर्डिनेटर के माध्यम से उन्हें स्वतंत्र, चिंतनशील और व्यवसायी रूप से

विकसित होने में सहायक होते हैं। इस कार्यक्रम ने एक जीवंत और समावेशी शिक्षा प्रणाली का निर्माण किया है जो हमारे छात्रों को 21वीं सदी और उससे आगे बढ़ने के लिए तैयार कर रही है।

संदर्भ सूची :

1. http://changemakers.delhi.gov.in/mentor-teacher-programme.html
2. https://currentaffairs-adda247-com.translate.goog/national-mission-for-mentoring-nmm/?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc https://education.temple.edu/ofp/mentor-teacher-roles-responsibilities
3. https://hindi.gktoday.in/national-mission-for-mentoring-%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE-%E0%A4%B9%E0%A5%88/amp/
4. https://ncte-gov-in.translate.goog/website/Hindi/IntroductionNMM.aspx?_x_tr_sl=en&_x_tr_tl=hi&_x_tr_hl=hi&_x_tr_pto=tc
5. http://timesofindia.indiatimes.com/articleshow/51729134.cms?utm_source=contentofinterest&utm_medium=text&utm_campaign=cppst
6. https://www.abplive.com/news/india/delhi-government-launched-desh-ke-mentor-program-children-studying-in-government-schools-will-get-better-guidance-ann-1980835/amp
7. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf
8. https://www.etvbharat.com/hindi/delhi/state/new-delhi/education-department-asked-applications-for-mentor-teacher dl20230510143506318318434
9. http://www.web.delhi.gov.in/wps/wcm/connect/doit_education/Education/Home/Circular
10. www.scertdelhi.nic.in
11. www.thehindu.com

■

समीक्षा

महाकवि की 'मंदोदरी'

आशीष कुमार तिवारी*

मगही के महाकवि मधुकर जी का सद्यः प्रकाशित काव्य–संग्रह 'विदुषी मंदोदरी' देखने पढ़ने को मिला। निश्चित ही हिंदी जगत् को यह उनकी महती देन है। अभी कुछ दिनों पहले ही, बुद्ध के समकालीन सुप्रसिद्ध आजीवक 'मक्खलि गोसाल' पर उनका विचारोत्तेजक मगही महाकाव्य प्रकाशित हुआ। और अब हिंदी में उनकी यह 'विदुषी मंदोदरी' आयी है। मधुकर जी उम्र के इस पड़ाव पर जिस प्रकार से गतिशील हैं वह चकित भी करता है और प्रेरणा भी देता है। लेकिन उनकी इस सक्रियता के पीछे कोई लोभ नही छुपा होता। वे यश–अर्थ लिप्सा से ऊपर उठ चुके हैं। वे रचनाकर्म को धर्म मानकर चलने वाले ऋषि–कवियों की तरह हैं जो अनाश्रित होकर क्रियाशील रहते हैं। गीता में ऐसे ही सक्रिय (activist) लोगों को ही कृष्ण ने योगी कहा है, सन्यासी माना है –

'अनाश्रितं कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः स सन्यासी स योगी च निर्भग्नि नैव च अक्रियः'

'विदुषी मंदोदरी' समकालीन सामाजिक–सांस्कृतिक विमर्श के संदर्भ को लेकर लिखा गया काव्य–संग्रह है जहाँ लंकाधिपति रावण की पत्नी मंदोदरी केंद्र में है। यह विदित है की शास्त्र वांग्मय में मंदोदरी पंच कन्याओं में परिगणित है जहाँ उसके विवेक और वैदुष्य की प्रशंसा भी है। मधुकर जी ने वहीं से संभवतः मंदोदरी के चरित्र चित्रण की प्रेरणा ली है।

बहुत पहले ही अनार्य– आर्य, रक्ष– देव संस्कृतियों की अवधारणाएं निर्मित हुई जिनके ठोस सामाजिक– राजनैतिक कारण रहे थे। औपनिवेशिक युग से लेकर अब तक भारतीय ज्ञानमीमांसा में सबसे बड़ी बहसें सांस्कृतिक इतिहास को लेकर ही हुई हैं। इस सांस्कृतिक इतिहास को सबसे अधिक साहित्य ही प्रभावित करता है। इसलिए इस प्रकार के ऐतिहासिक क्लासिकीय चरितप्रधान साहित्य का महत्व भी बढ़ जाता है। चतुरसेन शास्त्री का बड़ा भारी, पांडित्यपूर्ण और रोचक उपन्यास 'वयं रक्षामः' इसी तरह के साहित्य का एक नमूना है। जो साहित्य मात्र न रहकर सामाजिक विमर्श का एक टूल भी बन जाता है। हालांकि ऐसी रचनाओं के साथ कुछ खतरे भी हैं सबसे बड़ा खतरा कुपाठ का ही है। इस संदर्भ

*** संपर्क** – आशीष कुमार तिवारी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

में यदि मधुकर जी की मंदोदरी को देखें तो वहां सहृदय की कल्पना उड़ान बड़ी रम्य प्रतीत होती है। लेकिन यह रम्यता साहित्य की परिधि में ही रम्य मानी जाती है। उसका यदि विशुद्ध सामाजिक राजनैतिक पाठ किया जाए तो तथ्यात्मक भ्रम उत्पन्न हो जाता है। सर्वथा मौलिक कल्पना तो होती नही है लेकिन कुछ छूट फिर भी मानवी प्रज्ञा लेती है। इसी से सोपान बनता है— साहित्य के विकास का।

मधुकर जी ने जो छूट ली है वह समकालीन संदर्भों में साहित्य जगत् को रचनात्मक समृद्धि ही प्रदान करेगा ऐसा मैं सोचता हूँ। बाकी रचना को politically correct हर करना उसे corrupt करने जैसा है।

जहाँ तक कृति के शिल्प का सवाल है वह तो बेजोड़ है। मधुकर जी ने साहित्य जगत् के तीन बड़े युगों को देखा समझा है। वे हिंदी भाषा और साहित्य के इन बड़े परिवर्तनों के साक्षी रहें हैं। इसलिए भाषा और शिल्प की समझ उनकी काबिल–ए–तारीफ है। मंदोदरी काव्य की भाषा सांस्कृतिक औदात्य से झंकृत है। वहाँ प्रवाह देखने लायक है। आरंभ में ही मंदोदरी का जिस ललित भाषा में जयघोष हुआ है वह देखने लायक है –

'जय हो सुम्बा द्वीप की मय – ऋषि और अप्सरा हेमा की जय हो लाड़ली. .. मन्दोदरी की जय हो, चन्दनगन्ध सी सुगन्धी प्रथम आषाढ़ की प्रथम फुआर की जय हो।...'

इस चमचमाती भाषा के भीतर का अर्थ पक्ष भी उतना ही विचारोत्तेजक और चमकीला है। मंदोदरी जो एक विशाल जनधर्मी समतामूलक सामाज्य के अधिश्वर की भार्या और रक्ष संस्कृति की पटरानी है उसे आर्य पुरोहित मूल्यों से आबद्ध श्रीराम की पत्नी सीता के बरअक्स रखकर मधुकर जी ने दर असल दो संस्कृतियों और विचार व्यवस्थाओं का मूल्यांकन किया है। लेकिन मुख्यतया उनकी योजना साहित्य रचना की है अतः शुष्क तर्कवाद वे नही अपनाते।

यह भी ध्यातव्य है कि पुरातन वैदिक ऋषि ज्ञान परंपरा में के लिए उपयुक्त वे रावण को खड़ा कर रहे हैं और राम को उसी परंपरा से विमुख बता रहे हैं क्योंकि स्त्री–दलित स्वतंत्रता के सन्दर्भ में राम आख्यान के संदर्भ अपूर्ण और प्रतिक्रिया वादी है। अतः मधुकर अपनी विशुद्ध प्रगतिशील परंपरा को ऋषि विश्रवा के पुत्र रावण के यहाँ चिन्हित करते हैं चक्रवर्ती दशरथ के पुत्र के यहाँ नही। इस बात को बहुत ध्यान से समझ लेने पर, मधुकर जी के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी।

मधुकर जी दलित कस्बे से आने वाले महापुरुष हैं। जीवन संघर्ष की अनुभूति ने उन्हें जो विचार प्रदान किया उसे वे आरंभ से ही अभिव्यक्ति देते रहे हैं। चाहे वह उनका विश्वप्रसिद्ध मगही उपन्यास 'राम रतिया' हो चाहे उनकी कविताएँ। अपने समाज और अपने जनों के प्रति उनकी निष्ठा और उनकी संवेदना अनुकरणीय है।

मगही में इन्होंने जो 'हां मैं दुसाध हूँ', और 'जागड मोक्खली अइलन' लिखा उसमें उन्होंने उसी संवेदना को सांस्कृतिक ऐतिहासिक आधार दिया। और अब

हिंदी में – 'मंदोदरी' उसी भूमिका के साथ आयी है। यह काव्य–संग्रह चतुरसेन शास्त्री के दशकंधर रावण की प्रिया मंदोदरी को लेकर आया है। और एक तरीके से उसी साहित्य चिंतन की परंपरा को पुनर्नवा करते हुए। जहाँ अब नये युग की नारी केंद्र में है। स्वच्छंद स्वतंत्र संवादधर्मी। इस काव्य संग्रह में 12 अध्याय हैं। जिसमें मंदोदरी, रावण, राम, सीता, बाली और हनुमान मुख्य पात्र हैं और इनके माध्यम से ही कवि ने ताना बाना खड़ा किया है। इन सभी में सर्वाधिक मुखर, आधुनिक और वैदुष्यमंडित चरित्र मंदोदरी का है। वहीं सीता के जीवन की त्रासदियों पर कवि ने अपने ढंग से न्यायपूर्ण हस्तक्षेप किया है। अब तक रामकाव्य के दौरान सीता को लेकर बड़ी बहसें हह्मी, राम की आलोचना हुयी, परंपरा की आलोचना हुयी लेकिन सबकुछ सीता की चुप्पी के शर्त पर। कहीं भी दुःखीता सीता ने तेवर नही दिखाया। कथित आर्य मर्यादा और पितृसत्ता ने हमेशा सीता की सहनशक्ति की प्रतिमूर्ति के तौर पर ही पेश किया।

मधुकर जी जोखिम उठाकर एक नया प्रस्थान इस आख्यान मेंरू जोड़ देते हैं जहाँ सीता की मन ही मन रावणीय व्यवस्था के प्रति सहानुभूति हो जाती है। यह मनोवैज्ञानिक तौर पर संभव भी है। यह विचलन न होकर यथार्थ है। सत्याग्रह है।

सीता परित्याग के पश्चात् की कथा का अंत जहाँ सीता के अंत से (भूमि में समा जाने से) होता है वहीं मधुकर जी ने लौकिक न्याय का पक्ष लेते हुए उन्हें अपने जनकपुर में चले जाना दिखाया है। तथा पिता के साम्राज्य का उत्तराधिकार उसकी पुत्री की संततियों (लव–कुश) को दिलवाकर रामकथा को एक नया आयाम दे दिया है।

इस संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि इस पुस्तक का समर्पण उन्होंने बिहार के यशस्वी मुख्यमंत्री को किया है इस श्रेय के उपलक्ष्य में कि श्री नीतीश जी ने महीला आरक्षण बिधेयक तमाम विरोधों के बावजूद दृढ़ता से पारित किया था। इससे मधुकर जी की राजनैतिक समझ और बौद्धिकता का अंदाजा लगता है।

कुल मिलाकर यह सुकृति पठनीय है और नये समाज, नयी संस्कृति के निर्माण मैं सहायक है। मैं चाहूंगा का कि हिंदी जगत इस कृति और इसके रचयिता का अपेक्षित अभिनदंन करे।

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

श्रद्धांजलि

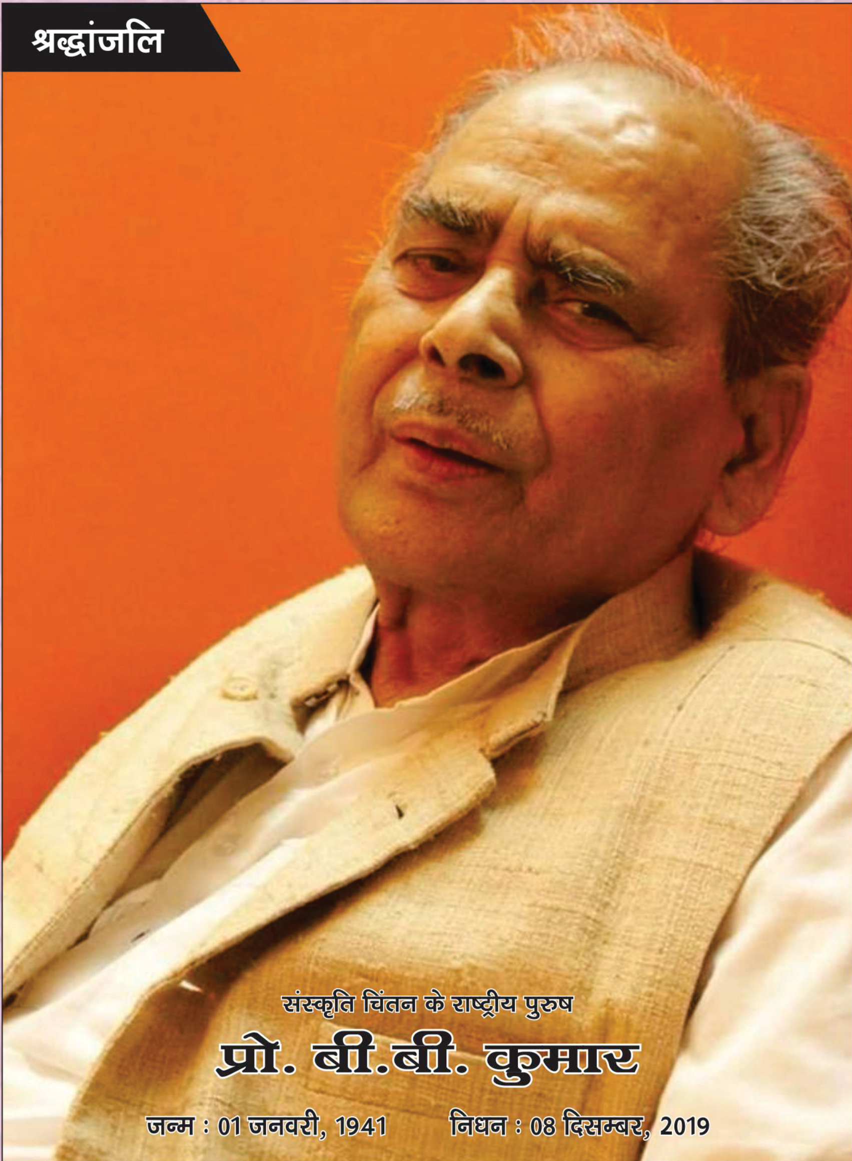

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए 5/6, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.) भारत द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण
e-mail : shivnarayan22@yahoo.com